अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर

-: लेखक :-

पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य

-: संपादक :-

पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर

समाधानदाता

परम शासन प्रभावक, व्याख्यान वाचस्पति, दीक्षा युग प्रवर्त्तक पूज्यपाद
आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** के तेजस्वी शिष्यरत्न
बीसवीं सदी के महान योगी, सूक्ष्म तत्त्व चिंतक
पूज्यपाद **पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**

हिन्दी संपादक

मरुधर रत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर पूज्यपाद
आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

242

प्रकाशन

दिव्य सन्देश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor,
बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,
कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 8484848451 (only whatsapp)

हिन्दी आवृत्ति : प्रथम • **मूल्य :** 160/- रुपये • **प्रतियाँ :** 1000
दि. 5-6-2024 • **विमोचन स्थल :** वडगांव (राजस्थान)
. • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य, जैन इतिहास, जैन तत्त्वज्ञान, जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप **दिव्य संदेश प्रकाशन** मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 7 पुस्तकें दी जाएंगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तकें एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोड़कर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं.,
4403, लोटन जाट गली,
पहाड़ी धीरज, सदर बाजार,
दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक
प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से....

परम शासन प्रभावक, जैन शासन के महान् ज्योतिर्धर **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.** के तेजस्वी शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी, नमस्कार महामंत्र के बेजोड साधक चिंतक एवं अनुप्रेक्षक भावाचार्य तुल्य पूज्यपाद **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** श्री द्वारा आत्मदिन एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पूज्य आचार्य देव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा हिन्दी भाषा में संपादित 241 वीं पुस्तक **'अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर'** का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है।

नवकार महामंत्र के बेजोड साधक **पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य म.** सूक्ष्म प्रज्ञा के धनी थे।

उन्होंने अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा के बल पर तत्त्व जिज्ञासुओं की शंकाओं का खूब सुंदर समाधान किया है।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास हैं कि प्रस्तुत प्रकाशन तत्त्व पिपासुओं को शांत करने में सक्षम होगा।

संपादक की कलम से...

जन्म-जन्मांतर की विशिष्ट आराधना-साधना के फल स्वरुप अध्यात्मयोगी, निःस्पृहशिरोमणि सूक्ष्म तत्त्व चिंतक, बीसवीं सदी के महान् योगी पूज्यपाद योगीराज पंन्यास प्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** श्री को बचपन से ही ऐसी सूक्ष्म-प्रज्ञा का क्षयोपशम प्राप्त हुआ था कि वे तात्त्विक प्रश्नों का युक्तिगम्य समाधान प्रदान कर सकते थे ।

संयम जीवन के प्रारंभिक काल में ही उनके द्वारा गुजराती भाषा में आलेखित **नमस्कार महामंत्र, धर्म श्रद्धा, प्रतिमा पूजन, देवदर्शन** आदि पुस्तकों में उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा के साक्षात् दर्शन होते है ।

उन पुस्तकों में अनेक प्रश्नों के योग्य समाधान दिए है ।

बाल जीवों को अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में शंकाएं होना स्वाभाविक है ।

जब तक मन के भीतर रही उन शंकाओं का योग्य समाधान नहीं होता हैं, तब तक जिनवचनों पर संपूर्ण श्रद्धा पैदा नहीं होती है ।

धर्म का मूल ही सम्यग्दर्शन हैं जिनवचन में शंका हमारे सम्यक्त्व को मलिन बनाती हैं, अतः उन शंकाओं का योग्य समाधान खूब जरुरी है ।

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** ने अतीन्द्रिय पदार्थों के संदर्भ में बालजीवों के अन्तर्मन में पैदा होने वाली उन शंकाओं को तथा कहीं पर स्वयं शंकाएं उपस्थित कर शास्त्र आधार पर अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा के बल से योग्य समाधान किया है ।

शंकाओं का योग्य समाधान हो जाय तो जिन वचनों पर पूर्ण श्रद्धा पैदा हो सकती है ।

हिन्दी भाषी पाठकों की तत्त्व जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए उन प्रश्नों का हिन्दी भाषा में भावानुवाद कर उन्हें दो भागों में विभक्त किया हैं । मुझे पूर्ण विश्वास है कि पूज्य गुरुदेवश्री की असीम दिव्य कृपा के बल से ही प्रकाशित ये पुस्तके तत्त्वपिपासुओं की तत्त्व तृषा को शांत करने का अवश्य काम करेगी ।

सीमंधरस्वामी जैन मंदिर
लोढा धाम
मुंबई-अहमदाबाद हाईवे
वसई
दि. 20-12-2023

अध्यात्मयोगी
पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री
भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
कृपाकांक्षी
रत्नसेनसूरि

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृ.सं.
1.	आत्मा	1
2.	जगत्कर्त्ता	20
3.	कर्म	29
4.	श्रद्धा	39
	आयंबिल	52
5.	स्याद्वाद	57
6.	वार्तालाप के कतिपय अंश	67
7.	नमस्कार महामंत्र	87
8.	उपधान तप की आवश्यकता	127
	उपधान तप का विधान	127
	उपधान को न माननेवाला आज्ञाविराधक	128
	जीवन का एक अपूर्व लाभ	129
	उपदेशक तथा उत्तरसाधक	134
9.	प्रतिक्रमण	135

1 आत्मा

प्रश्न 1 :– आत्मा के अस्तित्व में क्या प्रमाण है ?

उत्तर :– आत्मा सभी को स्वानुभव प्रत्यक्ष है । **'मैं हूँ'** यह ज्ञान सभी को स्वानुभव सिद्ध है । **'किन्तु मैं नहीं हूँ'** ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता है । 'मैं हूँ' इस ज्ञान का विषय जो कोई है, वही आत्मा है ।

'मैं हूँ' इस ज्ञान की प्रतीति इन्द्रियों की सहायता बिना ही होती है, अतः वह आन्तरिक क्रिया है–शारीरिक क्रिया नहीं है । यह प्रतीति शरीर को नहीं होती है, बल्कि अन्तर में होती है ।

आत्मा के गुण अवग्रह आदि भी सभी को प्रत्यक्ष हैं । जहाँ स्मरण होता है, वहाँ उसके पूर्व अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा भी अवश्य होते हैं । रूप, रस आदि धर्मों के द्वारा जिस प्रकार घट-पट आदि का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार अवग्रह आदि धर्मों के द्वारा आत्मा रूपी धर्मी का भी प्रत्यक्ष होता है ।

दर्शन, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और आलोचना आदि करने वाले चैतन्य धर्म से युक्त **'अहं'** की प्रतीति का विषय आत्मा है और वह देह से भिन्न है । **'मैं स्थूल हूँ' 'मैं दुर्बल हूँ'** इत्यादि प्रतीति **'अर्हम्'** प्रतीति का आभास है, क्योंकि उसके उत्तरकाल में **'मेरा शरीर स्थूल है' 'मेरा देह दुर्बल है'** इत्यादि विपरीत प्रतीति होती है ।

इस प्रकार **'मैं स्थूल हूँ' 'मैं दुर्बल हूँ'** इत्यादि प्रतीति का कारण शरीर के ऊपर रहा हुआ आत्मा का ममत्व ही है । आत्मा के सभी कार्य शरीर द्वारा होते हैं, अतः आत्मा को शरीर के प्रति अत्यन्त प्रेम/राग होता है । इसी के फलस्वरूप आत्मा अपना आरोपण शरीर में कर देती है और शरीर के अनेक धर्मों में अपना स्वामित्व कर लेती है । वस्तुतः वे समस्त ख्याल शरीर में नहीं, बल्कि आत्मा में ही होते हैं, क्योंकि **'चैतन्य'** शरीर का नहीं, बल्कि आत्मा का धर्म है ।

जो **'पदार्थ'** स्वयं चैतन्य-स्वरूप नहीं है, उस **'पदार्थ'** का **'चैतन्य'** के साथ कितना ही सम्बन्ध क्यों न हो जाय, फिर भी वह पदार्थ **'चैतन्य'** स्वरूप नहीं बनता है। जिस प्रकार **'प्रकाश देना'** घट का स्वभाव नहीं है...तो घट चाहे हजारों दीपकों के साथ सम्बन्ध कर ले, फिर भी वह प्रकाश नहीं देता है, उसी प्रकार **'चेतन'** के संयोग से **'जड़'** कभी **'चेतन'** नहीं बनता है।

'चैतन्य' स्व-पर प्रकाशक है। शरीर जड़ है, अतः वह स्व-पर प्रकाशक नहीं है।

कठोरता / काठिन्यता पृथ्वी का धर्म है, जल का नहीं, उसी प्रकार चैतन्य अमूर्त होने से वह मूर्त शरीर का धर्म नहीं है, किन्तु अमूर्त जीव का ही धर्म है।

यदि शरीर में से चैतन्य का सर्जन होता हो तो कभी-कभी कमजोर शरीर में भी चैतन्य का जो प्रकर्ष और पुष्ट शरीर में चैतन्य का अपकर्ष दिखाई देता है, वह कभी नहीं बन सकता।

'प्राणवायु' के आधार पर चैतन्य की प्रबलता मानी जाय तो मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ व्यक्ति अधिक श्वासोच्छ्वास लेता है, अतः उसमें चैतन्य की अधिकता / प्रबलता होनी चाहिये और समाधिस्थ योगी अत्यन्त अल्प श्वासोच्छ्वास लेता है, उसमें चैतन्य की अल्पता अथवा अभाव होना चाहिये, परन्तु ऐसा बनता नहीं है।

'तेज' और **'वायु'** के अभाव में मृत शरीर में चैतन्य का अभाव माना जाय तो उसी मृतक में उत्पन्न हुए कीड़ों में **'चैतन्य'** कहाँ से आया ?

'चैतन्य' किसी एक भूत का धर्म नहीं है, उसी प्रकार **'भूत समुदाय'** का भी धर्म नहीं है। जो प्रत्येक में नहीं होता है, वह समुदाय में भी नहीं होता है।

'शरीराकार निर्मित भूतों में चैतन्य उत्पन्न होता है' इस प्रकार कहने पर प्रश्न खड़ा होता है कि उसमें एक मात्र **'भूत'** कारण है, अथवा अन्य कोई ?

यदि अकेले भूतों से चैतन्य पैदा होता हो तो वह सर्वत्र बनना चाहिये ।

यदि वह **'चैतन्य'** अन्य सहकारी कारणों से बनता हो तो प्रश्न खड़ा होता है कि वे सहकारी कारण भूतस्वरूप हैं अथवा भूत से अतिरिक्त हैं ?

भूत स्वरूप हों तो पहली आपत्ति कायम रहती है और भूत सिवाय अन्य कोई हो तो वह **'आत्मा'** ही है ।

'मदिरा के अंग से मक-शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भूतोहं के संयोग से चैतन्य-शक्ति उत्पन्न होती है–' यह कथन भी गलत है ।

मदिरा के पृथक् अंगों में अव्यक्त मद-शक्ति रही हुई है । परन्तु पृथक् भूतों में **'चैतन्य'** शक्ति का लेश भी अंश नहीं है ।

मदिरा के अंग में से जो मद-शक्ति उत्पन्न होती है, वह वस्तुतः मदिरा अथवा उसके आधार में नहीं है, किन्तु उसके पान में है । मदिरा के पान में जो शक्ति आती है, वह जीव के योग से आती है ।

दधि के संयोग से जिस प्रकार निद्रादि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार मदिरा के संयोग से जीव में मद-शक्ति उत्पन्न होती है, किन्तु वह अजीव में उत्पन्न नहीं होती है । इस प्रकार मद-शक्ति की उत्पत्ति भी जीव के अस्तित्व को ही सिद्ध करती है ।

शरीर रूपी, साकार और इन्द्रियों से ज्ञेय स्वरूप है, जबकि ज्ञानादि गुण अरूपी, निराकार और इन्द्रियों से अगोचर हैं । अतः शरीर और आत्मा के बीच गुण-गुणी भाव भी नहीं घट सकता है । गुण का आधार गुणी, गुण के समान ही अरूपी होना चाहिये ।

स्व-शरीरगत चैतन्य, स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है ।

पर-शरीरगत चैतन्य **'चेष्टावत्त्व'** हेतु से सिद्ध होता है, क्योंकि प्रत्येक सचेतन प्राणी में हिताहित-प्राप्ति-परिहारनुकूल चेष्टा दिखाई देती है अर्थात् हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए सभी प्राणी प्रयत्नशील दिखाई देते हैं ।

कदाचित् कोई कहे **'माता का चैतन्य सुत के चैतन्य का उपादान-कारण है । तो उसे प्रश्न किया जा सकता है'** संमूर्च्छिम यूकादि जन्तुओं में मातादि के बिना चैतन्य कहाँ से आया ? वस्तुतः मातादि के अभाव में भी यूकादि में चैतन्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है, अतः माता का चैतन्य सुत के चैतन्य का उपादान कारण नहीं है ।

चैतन्य का प्रतिषेध करने वाला प्रत्यक्ष अथवा अनुमानादि एक भी प्रमाण नहीं है, जबकि चैतन्य को सिद्ध करने वाले स्व-संवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ-साथ सर्वज्ञ वचन स्वरूप जिनेश्वर देवों के आगम भी विद्यमान हैं । आगम प्रमाण है कि **'उपयोग लक्षण से युक्त संसारी जीव अनादि काल से संसार में है ।'**

जीव का जो प्रतिषेध करता है, वह स्वयं जीव है, क्योंकि अचेतन में प्रतिषेध करने का कोई सामर्थ्य नहीं है ।

'आत्मा' का निषेध असम्भव है ।

'माता मे वंध्या' 'अहं नाऽस्मि' । 'सुप्तोऽहम्' । 'मृतोऽहम्' 'अप्रकाश्यः सूर्यः' इत्यादि वाक्यों की भाँति आत्मनिषेधक वाक्य भी असम्भव-दोष से ग्रस्त हैं ।

व्युत्पत्तिमद् शुद्ध-पद का निषेध स्व से विरुद्ध अर्थ को सिद्ध करता है । **'अघट'** कहने से **'घट'** की भी सिद्धि हो जाती है । उसी प्रकार **'अजीव'** कहने से **'जीव'** की भी सिद्धि हो जाती है ।

'अडित्थ' पद व्युत्पत्तिमद् नहीं है और **'अखरविषाण'** शुद्ध-असामासिक पद नहीं है, उसी कारण वे निषेध अस्तित्व की सिद्धि नहीं करते हैं ।

विद्यमान वस्तु का ही निषेध हो सकता है । छट्ठी इन्द्रिय अथवा छट्ठे भूत का कोई निषेध नहीं करता है । छट्ठे भूत का जो निषेध करता है, वह निषेध, भूत के साथ षट् संख्या के समवाय का निषेध है, परन्तु संख्या और भूत का निषेध नहीं है ।

'देवदत्त घर में नहीं है ।' 'आकाश में दो चन्द्र नहीं हैं ।' 'घट प्रमाण मोती नहीं है ।' इत्यादि निषेध भी अनुक्रम से वस्तु के समवाय, संयोग और सामान्य-विशेष धर्म के ही हैं किन्तु धर्मी का सर्वथा निषेध नहीं है ।

'आत्मा नहीं है ।' वह वाक्य भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं करता है, बल्कि मृत-देह के साथ आत्मा के सम्बन्ध का निषेध करता है, जैसे-मृत शरीर में आत्मा नहीं है ।

आत्मा की सिद्धि के लिए ज्यादा गहराई में न जाएँ, फिर भी इतने से ही समझ सकते हैं कि जिस प्रकार रूप, रस आदि गुण किसी आधारभूत द्रव्य के बिना नहीं रह सकते हैं, उसी प्रकार रूप-ज्ञान, रस-ज्ञान आदि गुण भी आधारभूत द्रव्य के बिना कैसे रह सकेंगे ? और वह आधार आत्मा को छोड़कर **'दूसरा कोई नहीं है ।'** यह बात भी बराबर समझ में आ जाय तो **'आत्मा'** के अस्तित्व के विषय में शंका को कोई स्थान ही नहीं रहेगा ।

इस प्रकार आत्मा सत् द्रव्य के रूप में सिद्ध होता है । किसी भी सद् वस्तु का एकान्तिक-नांश नहीं होता है । जिस समय घट का नाश होता है, उसी समय वह घट, घट रूप में नहीं रहता है, बल्कि टुकड़ों के रूप में परिणत हो जाता है । दीपक की ज्योति बुझने पर अन्धकार में बदल जाती है । तालाब का पानी शीतल पवन के रूप में बदल जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी एक भव को छोड़कर तुरन्त ही अन्य भव को प्राप्त कर लेती है । किन्तु एक क्षण भर के लिए भी आत्मा अपने अस्तित्व को खोती नहीं है ।

जिस प्रकार सत् का एकान्तिक नाश नहीं है, उसी प्रकार असत् की उत्पत्ति/उत्पाद भी नहीं है, अन्यथा कूम-रोम से रज्जू की उत्पत्ति होनी चाहिये, परन्तु वैसा बनता नहीं है ।

इससे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है । आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने पर उसका परलोकगामित्व भी सिद्ध होता है ।

प्रश्न 2 :– शरीर से आत्मा भिन्न है, ऐसी प्रतीति कैसे की जाय ?

उत्तर :– (1) सुख-दुःख का अनुभव शरीरस्पर्शी नहीं, किन्तु अन्तःस्पर्शी है । उस पर से शरीर से भिन्न किसी शक्ति विशेष का शरीर में अस्तित्व है, उसका स्पष्ट ख्याल आता है ।

(2) इन्द्रियाँ विषय-ग्रहण की साधन हैं, किन्तु इन्द्रियों की सहायता से विषय को ग्रहण करने वाला तत्त्व भिन्न है, यह बात सिद्ध होती है । साधक को साधन की अपेक्षा रहती है, अतः साधक और साधन एक नहीं होने चाहिये ।

(3) पुद्गल के रूप-रस आदि गुण प्रतीत हैं । उनमें एक भी गुण ऐसा नहीं है, जो चैतन्य के रूप में सिद्ध हो । चैतन्य गुण सभी को स्वानुभाव सिद्ध है । उस गुण के धर्मी रूप में जो तत्त्व सिद्ध होता है, वही आत्म-तत्त्व है । चैतन्य का उपादान कारण मस्तक नहीं है, क्योंकि मस्तक भौतिक है और चैतन्य के संवेदन में निमित्त मात्र है ।

(4) एक ही माता-पिता की सन्तानों में अथवा एक ही साथ जन्म लिए युगल में बुद्धि, अनुभव, वर्तन आदि में जो फर्क दिखाई देता है, उसमें कारणभूत पूर्व जन्म के संस्कार ही हैं, अर्थात् स्वभाव-भेद में पूर्व जन्मों के संस्कारों को छोड़कर दूसरा कारण क्या हो सकता है ? ऐहिक कारण भी असर करते हैं, परन्तु उनका एक समान असर नहीं होता है ।

(5) संसार में नीति और धर्म के मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति भी दुःखी और दरिद्री दिखाई देता है, जबकि अनीति और अधर्म के मार्ग पर प्रवर्त्तमान व्यक्ति भी सुखी और सम्पत्ति वाला दिखाई देता है । उनमें पूर्वजन्मोपार्जित विचित्र कर्मों के विचित्र परिणामों के सिवाय अन्य कारण क्या हो सकता है ?

प्रश्न 3 :– पूर्वजन्म है तो उसकी याद क्यों नहीं आती है ?

उत्तर :– वर्तमान जिन्दगी में भी एक अवस्था की घटना अन्य अवस्था में याद नहीं आती है । तो फिर पूर्वजन्म की क्या बात करें ?

जन्म-परिवर्तन, शरीर-परिवर्तन, इन्द्रिय-परिवर्तन, स्थान-परिवर्तन, वातावरण-परिवर्तन आदि सबका एक साथ परिवर्तन हो जाने से, जन्मान्तक की बात कहाँ से याद आएगी ? फिर भी कई कई महानुभावों को आज भी पूर्वजन्म की अमुक प्रवृत्तियाँ याद आती हैं । अन्त में पूर्व-अनुभूत आहार और काम-क्रीड़ा तो प्रत्येक प्राणी की किसी भी प्रकार के शिक्षण बिना ही याद आ जाती है, यही पुनर्जन्म का प्रबल प्रमाण है ।

वर्तमान जन्म में जन्म के साथ ही होने वाली **'आहारभिलाषा'** तथा बाल्यवय में खिलौने (पुतले) को देखकर होने वाली **'विषयाभिलाषा'** किसी भी प्रकार के शिक्षण बिना ही प्राप्त होने से पूर्वजन्म के अभ्यास का ही फल है ।

इस संसार में अनेक घटनाएँ अकस्मात् बनती हैं । ये भी पुनर्जन्म को ही सिद्ध करती हैं । आकस्मिक घटना अद्रष्ट-कारण के बिना नहीं बनती है । कारण के बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है । यदि कारण के बिना कार्योत्पत्ति होती हो तो या तो वह घटना सदैव बननी चाहिये अथवा कभी नहीं होनी चाहिये । **'क्वचित् और कदाचित् बनाने वाली घटनाएँ कारण बिना नहीं होती हैं–'** यह सर्वमान्य सिद्धान्त है । जिन कारणों से आकस्मिक घटनाएँ बनती हैं वे कारण अद्रष्ट-कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं ।

कर्म के अस्तित्व की सिद्धि के साथ ही आत्मा और उसके पूर्वजन्म के अस्तित्व की भी सिद्धि हो जाती है । पूर्वजन्म के अस्तित्व की सिद्धि के साथ ही पुनर्जन्म का भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है । आत्म कर्म, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की सिद्धि के साथ मोक्ष और ईश्वर की भी सिद्धि हो जाती है । कर्ममल से आत्मा की पूर्णशुद्धि का नाम ही मोक्ष है और वही मोक्ष ही परमात्मपना है ।

प्रश्न 4 :– परमात्मा की सिद्धि में प्रमाण क्या है ?

उत्तर :– परमात्म-सिद्धि के लिए अन्य चर्चाओं में उतरने के

बजाय अशुद्ध आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ही आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व में प्रमाण है ।

जिन वस्तुओं की अंशतः शुद्धि दिखाई देती है, उन वस्तुओं की पूर्ण शुद्धि भी सम्भवित है, आत्मा भी एक वस्तु है–उसकी पूर्ण शुद्धि का नाम ही परमात्मपना है ।

जब तक आत्मा मूढ़ में होती है, तब तक आत्मा बहिरात्मा कहलाती है । शुद्धि के प्रकर्ष से वही आत्मा अनुक्रम से भद्रात्मा, अंतरात्मा, सदात्मा, महात्मा, योगात्मा और परमात्मा बनती है । परमात्मपने का किसी का एकाधिकार नहीं है, परन्तु जो आत्मा आत्मशुद्धि के पुनीत पथ पर आगे बढ़कर शुद्धि के प्रकर्ष को प्राप्त करती है, वह आत्मा परमात्मा बन जाती है ।

प्रश्न 5 :– आत्मा का स्वरूप अथवा लक्षण क्या है ?

उत्तर :– किसी भी पदार्थ के निश्चित लक्षण / स्वरूप बोध के लिए उस पदार्थ के भ्रमात्मक लक्षण (जिसे संस्कृत में उपलक्षण अथवा उपाधि कहते हैं) तथा तथ्य-लक्षण (जिसका त्रिकाल में कभी वियोग नहीं होता है) का विचार करना अत्यावश्यक है ।

इसमें प्रथम पद्धति **'विश्लेषणात्मक पद्धति'** है और दूसरी **'समन्वयात्मक-पद्धति'** है ।

जल का लक्षण करना हो तब **'विश्लेषणात्मक पद्धति'** से यह तय कर सकते हैं कि **'उष्णता'** जल का लक्षण नहीं, किन्तु उपलक्षण या उपाधि है । यह उष्णता अग्नि-संयोग रूप उपाधि से जल में उत्पन्न हुई है । उस उपाधि के दूर होने के साथ ही उष्णता का विलय होने लगता है और जल की स्वाभाविक शीतलता प्रगट होती है ।

इस प्रकार **'उष्णता'** त्रिकाल-सहवर्तिनी होने से जल का लक्षण नहीं बन सकती है, किन्तु उपलक्षण बनती है अर्थात् **'उष्णता'** से जल का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है, बल्कि भ्रमात्मक ज्ञान होता है ।

समन्वयात्मक पद्धति से पदार्थ के यथार्थ स्वरूप या लक्षण का बोध होता है ।

जल का यथार्थ/अभ्रमात्मक लक्षण शीतता/शीतलता है । इसका ज्ञान समन्वयात्मक पद्धति से होता है ।

किसी भी पदार्थ का लक्षण प्राकृतिक है या कृत्रिम ? इसे जानने का भी उपाय है । जहाँ कृत्रिम लक्षण दिखाई देता है वहाँ 'क्यों ? कैसे ?' प्रश्न अवश्य उठता है ।

जल को उष्ण / गर्म देखने के साथ ही 'यह जल उष्ण क्यों है ?' ऐसा प्रश्न अवश्य खड़ा होता है । परन्तु जल का जो प्राकृतिक Natural धर्म है, उस शीतलता का अनुभव करते समय 'यह जल शीतल क्यों है ?' ऐसा प्रश्न उठता ही नहीं है । इसी से यह सिद्ध होता है कि जल में उष्णता कृत्रिम है और शीतलता स्वाभाविक है । अतः स्वाभाविक लक्षण का निर्णय कराने वाली समन्वयात्मक पद्धति है और वैभाविक लक्षण का निर्णय कराने वाली **'विश्लेषणात्मक'** पद्धति है ।

आत्मा का प्रथम लक्षण–आत्मा का प्रथम लक्षण **'सत्'** यानी अस्तित्व है । आत्मा सनातन है अर्थात् आत्मा का अस्तित्व त्रिकाल अबाध्य है । इस बात के निर्णय के लिए प्रकार का निर्णय करना पड़ेगा कि इस जगत् में अविद्यमान वस्तु उत्पन्न नहीं होती है और विद्यमान वस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता है ।

नासतो विद्यते भावः, नाऽभावो विद्यते स्वतः जो असत् है, वह उत्पन्न नहीं होता है और जो है, उसका कभी अभाव नहीं होता है ।

अर्थात् किसी भी द्रव्य का मूलतः विनाश नहीं होता है, मात्र उसका रूप, आकार, नाम और स्थल बदल जाता है ।

उदाहरणतः एक सुथार लकड़ी में से कुर्सी बनाता है तब किसी नए पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता है, बल्कि बाजार अथवा जंगल में से लाई हुई लकड़ी के योग्य टुकड़े कर, उन्हें व्यवस्थित रूप से सेट (Set) कर देता है ।

इस प्रकार प्रत्येक चीज में स्थान, आकार या नाम के परिवर्तन सिवाय अन्य कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है । मूल से जिस पदार्थ का

अस्तित्व ही न हो, उस पदार्थ का सर्जन या विनाश इस जगत् में है ही नहीं ।

आधुनिक पदार्थ-विज्ञान के शोधकों को भी इस बात का एक या दूसरे शब्दों में स्वीकार करना ही पड़ता है ।

कोई इसे पदार्थ की अनश्वरता कहते हैं तो कोई इसे **'पदार्थ का अनुत्पाद्यत्व'** कहते हैं तो कोई इसे **'शक्ति का नित्यत्व'** कहते हैं ।

आत्मा के संदर्भ में भी यही बात लागू पड़ती है ।

कोई प्रश्न करे-**'जन्म के पूर्व मैं विद्यमान था या नहीं ?'** तो उसका एक ही उत्तर देना होता है–**'वर्तमान में या नहीं ?'** इसप्रश्न का तू जो जवाब देगा, उसी पर तेरे प्रश्न का जवाब अवलंबित है ।

कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि **'वर्तमान में मैं विद्यमान नहीं हूँ–'** इसी से सिद्ध होता है कि **'यदि तू वर्तमान समय में विद्यमान है तो भूतकाल में भी तू विद्यमान था और भविष्यकाल में भी विद्यमान रहेगा ।'** क्योंकि जो पहले न हो, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और जो वर्तमान में विद्यमान है, उसका मूल से अभाव संभव नहीं है । अलबत्त जिस प्रकार लकड़ी कुर्सी के रूप में परिवर्तित हो गई है, उसी प्रकार तेरे में भी अनेक परिवर्तन सम्भव हैं, फिर भी तेरा सर्वथा अभाव सम्भव नहीं है ।

आत्मा सनातन है और आत्मा का अस्तित्व त्रिकाल अबाधित है, इस बात को समझने के लिए दर्शनाशास्त्र अथवा भौतिक पदार्थ विज्ञान के अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती है, सामान्यतः ऐसा कह सकते हैं ।

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि में हमने यह बात तय की है कि `आत्मा वह पदार्थ है, जिसका संकेत, सम्बोधन और परिचय **'मैं'** शब्द से करते हैं । **'मैं'**पद का सम्बोधन, **'मैं'** पद का संकेत और **'मैं'** पद से ज्ञेय जो वस्तु है, वही आत्मा है । क्योंकि आत्मा सिवाय अन्य किसी वस्तु में **'मैं'** पद का संकेत / उल्लेख नहीं होता है ।

जब तक जगत् में **'अर्हम्'** और **'मैं'** पद का व्यवहार विद्यमान

है, तब तक आत्मा की सत्ता का निषेध करने वाले नास्तिक किसी भी युक्ति से सफलता प्राप्त नहीं कर सकते हैं । जिस प्रकार आस्तिक **'अहं'** पद से व्यवहार करता है, उसी प्रकार नास्तिक भी अपने आपकी पहिचान / व्यवहार के लिए **'मैं'** पद का प्रयोग करता है । **'आत्मा है'** इसे सिद्ध करने के लिए इससे बढ़कर और कोई दूसरा प्रमाण नहीं है । इस एक ही प्रमाण के आगे अन्य सब **'आत्मानिषेधक'** युक्तियाँ कमजोर सिद्ध हो जाती है ।

'अहं' पद के संकेत से जब आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, तब **'मैं'** और **'मर गया'** अथवा **'मैं और नहीं'** इस प्रकार के वाक्यप्रयोग असम्भवित बन जाते हैं ।

रोगी की नाड़ी देखकर डॉक्टर कहता है-**'यह मर गया है अथवा दर्दी स्वयं भयभीत बनता है मैं'** मर जाऊँगा परन्तु यह वाक्य प्रयोग औपचारिक है । मृत्यु का वास्तविक मानसिक अनुभव किसी को नहीं होता है ।

'मैं' और **'मरा हूँ'** इस प्रकार अनुभव ही असम्भवित है । जिस प्रकार **'मैं'** और **'नहीं'** इन दो शब्दों का एक साथ प्रयोग करना, असत्य है, उसी प्रकार **'मैं'** और **'मर गया'** इस शब्द का प्रयोग भी अनुभव विरुद्ध है ।

'मैं मर रहा हूँ' इस प्रकार के वाक्य-प्रयोग का कई बार अनुभव होता है, वहाँ भी केवल वर्तमान अथवा भूतकाल का प्रयोग नहीं होता है, बल्कि अपूर्ण वर्तमान काल का ही प्रयोग है और उसका सम्बन्ध भविष्यत् काल के साथ है, इसी कारण वह प्रयोग भी वास्तविक मनोविज्ञान के अनुसार नहीं है, बल्कि उपचारजन्य है ।

इस विषय को अधिक स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए निद्रा का द्रष्टांत प्रसिद्ध है ।

निद्रा के विषय में कह सकते हैं कि **'मैं सो गया था'** अथवा **'मैं सोने के लिए जा रहा था'** अथवा **'मुझे बहुत निंद आती है ।'** इत्यादि । परन्तु ऐसा प्रयोग तो कभी नहीं करते हैं कि **'मैं सोया हुआ**

हूँ' क्योंकि यदि तुम ऐसा प्रयोग करो तो सिद्ध होता है कि तुम जाग रहे हो और सोए हुए हो तो ऐसा प्रयोग कर ही नहीं सकते हो ।

इस प्रकार जब `निद्रा' शब्द का प्रयोग भी **'मैं'** पद के साथ असम्भवित है तो फिर **'मर रहा हूँ'** शब्द का प्रयोग तो **'मैं'** पद के साथ सर्वथा असम्भव है । अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में मृत्यु का कथन ही **'असम्भव'** दोष से ग्रस्त है ।

व्यवहार में **'वह मर गया' 'मैं मरने जाने वाला हूँ' 'मैं सो गया हूँ'** इत्यादि शब्दों का जो प्रयोग होता है, वह आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का सूचक है, किन्तु उनमें से एक भी प्रयोग आत्मा के सर्वथा अभाव का सूचक नहीं है ।

मृत्यु आत्मा का स्वभाव नहीं है–जिस प्रकार जीवन आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, उस प्रकार मृत्यु आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है । जीवन की तरह मृत्यु भी यदि आत्मा की स्वाभाविक अवस्था होती...तो मृत्यु से बचने के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करता ।

जो वस्तु अपने लिए सहज अथवा स्वाभाविक होती है, उससे बचने के लिए इस जगत् में कोई प्रयत्न नहीं करता है । जो स्वभाव नहीं है, उसी से बचने के लिए सभी प्रयत्न करते हैं ।

मछली के लिए जल में रहना स्वाभाविक है, इसीलिए वह जल से बाहर निकलने का प्रयत्न नहीं करती है, पृथ्वी पर रहना उसके लिए अस्वाभाविक है । इसीलिए पृथ्वी पर वह तड़फती है और पानी में जाने का प्रयत्न करती है । इसी प्रकार मरने से सभी घबराते हैं किन्तु जीवन से कोई घबराता नहीं है, इसी से सिद्ध होता है कि **'जीवन'** स्वाभाविक है और **'मृत्यु'** अस्वाभाविक है ।

'मृत्यु भी यदि आत्मा का धर्म अथवा स्वभाव होती तो मृत्यु से बचने के लिए किसी भी आत्मा का प्रयत्न नहीं होता, जबकि सभी आत्माएँ मौत से बचने के लिए प्रयत्न करती हैं और सदाकाल जीवन की इच्छा करती हैं । इसी से सिद्ध होता है कि 'जीवन' आत्मा का स्वभाव है ।'

जो बात जीवन और मृत्यु को लागू पड़ती है, वही बात स्वास्थ्य और रोग को भी लागू पड़ती है ।

स्वास्थ्य सभी चाहते हैं, रोग कोई नहीं चाहता है । इसी से सिद्ध होता है कि स्वास्थ्य स्वाभाविक है और रोग अस्वाभाविक है । बीमार को सभी पूछते हैं-बीमार कैसे पड़े ? परन्तु स्वस्थ को कोई नहीं पूछता है-**'तुम स्वस्थ क्यों हो ?'**

इससे स्पष्ट है कि स्वास्थ्य स्वाभाविक है, अतः उसका कारण जानने की जरूरत नहीं रहती है ।

नीरोगता और रोग के संदर्भ में नीरोगता जब स्वभाव सिद्ध है, तब जीवन और मृत्यु के संदर्भ में जीवन स्वाभाविक और मृत्यु अस्वाभाविक सिद्ध होती है । इसी से सिद्ध होता है कि **'आत्मा सनातन है ।'**

जन्म और मृत्यु का शब्दार्थ–संस्कृत में जन्म शब्द के लिए निम्नलिखित तीन शब्द हैं–

(1) जन्म **'जन्'** धातु से बनता है, जिसका अर्थ **'आगे आना या प्रगट होना'** होता है ।

(2) जन्म शब्द के लिए दूसरा शब्द **'उत्पत्ति'** है जो **'उत्'** पूर्वक **'पुद्'** धातु से बनता है, उसका अर्थ **'ऊपर आकर प्रगट होना'** है । दूसरे शब्दों में कहें तो **'जो आज तक ढका हुआ था, वह प्रकट होकर ऊपर आ गया ।'**

(3) जन्म शब्द के लिए तीसरा शब्द **'सृष्टि'** है, सृष्टि शब्द **'सृज् विसर्गे'** धातु से बना है । इसका अर्थ **'अव्यक्त को व्यक्त करना'** होता है ।

इन तीनों संस्कृत शब्दों का आन्तरिक भाव यह है कि **'ऐसी कोई भी वस्तु नवीन उत्पन्न नहीं होती है, जो पहले नहीं थी'** जन्म, उत्पत्ति और सृष्टि से तीनों शब्द इतना ही सूचित करते हैं कि **'जो वस्तु पहले अमुक पर्याय के रूप में अव्यक्त थी, वही वस्तु अमुक पर्याय के रूप में पैदा हुई है ।'**

अर्थात् संस्कृत भाषा में **'जन्म'** शब्द के लिए इन तीनों को छोड़कर अन्य कोई पर्याय शब्द नहीं है, जो इससे विपरीत अर्थ का संकेत करता हो ।

इसी प्रकार **'मरण'** शब्द के लिए संस्कृत में **'नाश'** शब्द है ।

'नाश' शब्द **'नश् अदर्शने'** धातु से बना है । इसका अर्थ अव्यक्त या अदृश्य होना होता है । इसलिए नाश शब्द का प्रयोग इन तीनों अवस्थाओं में हो सकता है ।

जन्म और मृत्यु के शब्दार्थ से भी यह सिद्ध होता है कि जन्म अथवा मरण, ये जीवन की आदि अथवा अन्त अवस्थाएँ नहीं है किन्तु अनादि-अनन्त जीव की अमुक अवस्थाएँ हैं, जो जन्म द्वारा व्यक्त होती हैं ।

इस प्रकार संस्कृत भाषा का शब्दकोश भी आत्मा की अमरता सिद्ध करता है ।

प्रश्न 6 :– आत्मा का दूसरा लक्षण कौनसा है ?

आत्मा ज्ञानस्वरूप है–आत्मा का प्रथम लक्षण सत् / अस्तित्व अथवा अमरत्व है, उसी प्रकार आत्मा का दूसरा लक्षण **'चित्'** अर्थात ज्ञान है । जो तीनों कालों में आत्मा से पृथक् नहीं होता है । आत्मा की ऐसी कोई अवस्था नहीं है कि जिसमें आत्मा को लेश भी ज्ञान न हो ।

अज्ञानी आत्मा भी इतना तो जानता है कि **'मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ'** इस प्रकार का अनुभव कराने वाला भी कोई ज्ञान ही है ।

जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि **'अमुक विषय में मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ'** तो इस प्रकार का निश्चय कराने वाला कौन ?

सबको यही स्वीकार करना पड़ेगा कि **'अज्ञानता का भी निश्चय करानेवाला एक प्रकार का ज्ञान ही है ।'**

यह ज्ञान पूर्ण है अथवा अपूर्व है ? यथार्थ है अथवा अयथार्थ है ? थोड़ा है अथवा अधिक है ? इसका निर्णय हमें यहाँ नहीं करना है, किन्तु वह भी एक ज्ञान ही है, इस प्रकार का निश्चय तो कर सकते हैं ।

प्रश्न 7 :– 'क्या समस्त प्रकार के ज्ञान से आत्मा को सर्वथा अलग कर सकते हैं ?'

उत्तर :– विचार करने पर यह निश्चय कर सकते हैं कि आत्मा की प्रत्येक अवस्था में...कुछ न कुछ अंश में तो ज्ञान अवश्य होता है यह बात सबको अनुभवसिद्ध है, इसीलिए आत्मा का दूसरा लक्षण ज्ञान है ।

केवल जागृत या स्वप्नावस्था में ही ज्ञान कायम रहता हो, ऐसा नहीं है । सुषुप्त अवस्था में भी ज्ञान विद्यमान होता है ।

अलबत्त, सुषुप्त या निद्रावस्था में जो चेतना रहती है, वह इतनी दबी हुई होती है कि उसका स्पष्ट रूप से अनुभव नहीं हो पाता है ।

निद्रावस्था में भी अव्यक्त चेतना विद्यमान होती है, उसका अनुभवसिद्ध प्रमाण यह है कि गाढ़ निद्रा में सोए हुए व्यक्ति को जब कोई मच्छर काटता है, तब वह अपने हाथ को ऊँचा कर...उस भाग में खिनता है । और जब वह जागता है और शरीर के भाग में जमे हुए रक्त को देखता है, तभी वह अनुमान करता है कि मुझे मच्छर ने काटा होना चाहिये और मैंने नख से खना होना चाहिये ।

सुषुप्त अवस्था में भी अव्यक्त चेतना न होती तो हाथ ऊँचा-नीचा करने की तथा खिनने की क्रिया कैसे हो पाती ? इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्त, जागृत और स्वप्नादि सभी अवस्थामों में न्यूनाधिक ज्ञान की मात्रा अवश्य होती है ।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ज्ञान आत्मा का दूसरा लक्षण है जो स्वरूपभूत है, आत्मा में नैसर्गिक है और आत्मा से सदा संयुक्त है ।

प्रश्न 8 :– ज्ञान पूर्ण है अथवा अपूर्ण ?

उत्तर :– चित् अथवा ज्ञान आत्मा का दूसरा लक्षण है तो वह ज्ञान पूर्ण है या अपूर्ण ? यह प्रश्न होना स्वभाविक है ।

हम अपने दैनिक जीवन में अनेक भूलें करते हैं, इसी से सिद्ध

होता है कि हमारा ज्ञान अपूर्ण है । पूर्ण ज्ञान वाला कभी भूल नहीं करता है ।

शास्त्र कहते हैं कि **'आत्मा का लक्षणभूत ज्ञान खण्ड नहीं, किन्तु अखण्ड है । परिच्छिन्न नहीं किन्तु अपरिच्छिन्न है । सीमित नही किन्तु निःसीम है । आत्मा सदा चित् स्वरूप अर्थात् पूर्ण प्रकाश स्वरूप है ।'** परन्तु यह बात ध्यान में रहे कि परिपूर्ण ज्ञान यह बद्ध आत्मा का नहीं किन्तु मुक्तात्मा का लक्षण है ।

मुक्तात्मा का ज्ञान निरपेक्ष, निःसीम, सर्वव्यापक और परिपूर्ण होता है ।

बद्धात्मा का ज्ञान स्वरूप से परिपूर्ण होते हुए भी अनेक प्रकार के अज्ञान के आवरणों से ढका हुआ होता है । इन आवरणों के हट जाने के साथ ही सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित होता है ।

सूर्य या प्रकाश-किरण के दृष्टान्त से यह बात अधिक स्पष्ट होगा ।

द्वार और खिड़कियाँ बन्द कर देने के बाद यदि किसी एक छिद्र से सूर्य की एक ही किरण का कमरे में प्रवेश होता हो...तो क्या यह कह सकते हैं कि सूर्य का प्रकाश इतना ही है ?

नहीं, सूर्य का प्रकाश तो अपरिमित है, परन्तु एक ही छिद्र होने से हमें अल्प प्रकाश प्राप्त होता है ।

इसी प्रक्रियानुसार अज्ञान आवरणों से ढका हुआ सम्पूर्ण ज्ञान भी, जितने प्रमाण में आवरण हटते हैं, उतने प्रमाण में प्रकाशित होता है ।

ज्ञान अन्तर में छुपा हुआ है–सम्पूर्णज्ञान आत्मा में है, उसे बाहर शोधने की आवश्यकता नहीं है, इस बात को अधिक स्पष्ट समझने के लिए अग्नि का दृष्टान्त है ।

अग्नि प्रगटाने के लिए उसे बाहर से लाना नहीं पड़ता है । अरणि-मन्थन से अथवा दियासलाई के घर्षण से स्वतः अग्नि प्रगट हो जाती है । अग्नि तो अव्यक्त रूप में मौजूद ही थी, निमित्त द्वारा उसे प्रगट किया गया है । अमुक प्रयोग में अव्यक्त वस्तु ही प्रगट होती है ।

इसी प्रकार लकड़ी या पाषाण में से मूर्ति बनाते समय भी कारीगर किसी आकार में प्रवेश नहीं कराता है । मूर्ति का आकार तो लकड़ी या पाषाण में था ही, जो अव्यक्त रूप में था, उसी को कारीगर अपनी कला के द्वारा प्रगट करता है । कारीगर की दृष्टि में एक आकार निश्चित होता है, वह अपनी कुशलता द्वारा पत्थर में रहे अयोग्य भाग को दूर कर देता है...आवरण हटने के साथ ही योग्य आकार प्रगट हो जाता है ।

ज्ञान भी बाहर से लाने योग्य वस्तु नहीं है, किन्तु योग्य उपायों के द्वारा आत्मा के अन्दर ही प्रगट करने का होता है ।

प्रश्न 9 :– आत्मा का तीसरा गुण कौनसा है ?

उत्तर :– अमरत्व और अनन्तज्ञान, आत्मा के इन दो गुणों के निश्चय के बाद आत्मा का तीसरा लक्षण है–आनन्द ।

सत् और चित् के साथ आत्मा का तीसरा लक्षण नित्य, शुद्ध और पूर्ण आनन्द है ।

प्रश्न खड़ा होता है–**'आत्मा का स्वभाव आनन्द हो तो जगत् के प्राणी निरन्तर शोक या दुःख का अनुभव क्यों करते हैं ?'**

इस प्रश्न का समाधान पूर्वोक्त युक्तियों द्वारा सहज और सुगम है ।

आत्मा का लक्षण सम्पूर्ण ज्ञान होते हुए भी जिस प्रकार मोह और अज्ञान के आवरण के कारण वह ज्ञान दबा हुआ होता है, उसी प्रकार अनन्त आनन्द भी आत्मा का सहज धर्म होते हुए भी मोह के गाढ़ आवरण से आवृत है । अनादि मोहाध्यास से विपरीत श्रद्धा और विपरीत वर्तन के कारण वह दुःख और शोक के महासागर में ही डूबा रहता है ।

आनन्द आत्मा का स्वभाव है, इस बात को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए रोते हुए मनुष्य का दृष्टान्त प्रसिद्ध है ।

किसी रोते हुए मनुष्य को देखकर लोग उसके पास जाकर पूछते हैं, **'तू क्यों रोता है ?'** परन्तु किसी शान्त व्यक्ति के पास

जाकर कोई नहीं पूछता है कि **'तू क्यों नहीं रोता ?'** इसी से सिद्ध होता है कि रुदन / रोना आत्मा का स्वभाव नहीं होने से उसके कारण को जानने की आवश्यकता रहती है और **'नहीं रोना'** आत्मा का स्वभाव होने से उसके कारण को जानने की आवश्यकता नहीं रहती है ।

इससे सिद्ध होता है कि **'दुःखी होना'** आत्मा का लक्षण नहीं है किन्तु किसी बाह्य कारण रूप उपाधि से उत्पन्न हुआ उपलक्षण मात्र है ।

आगे बढ़कर जो मनुष्य स्त्री-पुत्रादि के वियोग में इतने अधिक दुःखी होते हैं और कहते हैं कि **'बस, मेरा जीवन अंधकारमय हो गया...मैं लूट लिया गया ।'** वही व्यक्ति थोड़े दिनों के बाद इस शोक को सर्वथा भूल जाता है । इससे स्पष्ट होता है कि दुःख, जल की उष्णता की तरह, बाह्य कारण से उत्पन्न उपाधि मात्र है ।

जल की उष्णता के लिए बाह्य कारण की अपेक्षा रहती है, किन्तु उस उष्णता के निर्गमन के लिए काल के स्वाभाविक अतिक्रमण सिवाय अन्य किसी की आवश्यकता / अपेक्षा नहीं रहती है । इसी प्रकार दुःख भी कालनिर्गमन के साथ भुला दिया जाता है ।

इससे सिद्ध होता है कि दुःख आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप नहीं है, किन्तु आनन्द आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है ।

बाह्य कारणों से आत्मा दुःखी भी होती है, परन्तु उस समय आत्मा का आनन्द, आत्मा से बाहर नहीं निकल जाता है, किन्तु आत्मा के अन्दर ही दबा रहता है । इसी कारण वह आनन्द बाहर से आए दुःख को दूर कर सकता है ।

प्रश्न 10 :– सत्, चित् और आनन्द आत्मा के लक्षण हैं, तो उस आनन्द की प्राप्ति कब होती है ?

उत्तर :– युक्तिवाद की दृष्टि से अथवा प्रत्यक्ष अनुभव की दृष्टि से सोचने पर यह बात स्पष्ट होती है कि **'सदा जीवित रहने की इच्छा, यही आत्मा के अमरत्व स्वभाव के लिए स्पष्ट प्रमाण है ।'**

इसी प्रकार पदार्थों को जानने की इच्छा, आत्मा के ज्ञान स्वभाव का प्रमाण है और उसी प्रकार निरन्तर आनन्द की शोधवृत्ति, आत्मा के आनन्द स्वभाव का प्रमाण है ।

सदाकालीन जीवन की इच्छा और पदार्थों को जानने की इच्छा से आत्मा के अनन्त जीवन और निःसीमज्ञान स्वरूप का बोध होता है, उसी प्रकार आनन्द-शोध की वृत्ति भी आत्मा के आनन्द स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए स्पष्ट प्रमाण है ।

किसी कारणवश मछली पानी से बाहर आ जाए तो वह पुनः जल में जाने के लिए प्रयत्न करती है, उसी प्रकार आत्मा किसी कारणवश आनन्द से दूर हो जाय तो वह पुनः आनन्द पाने के लिए उद्यमवंत बनती है, इसका एक मात्र कारण है कि आनन्द आत्मा का स्वभाव है ।

आत्मा जो कुछ भी प्रवृत्ति करती है, वह आनन्द के लक्ष्यपूर्वक ही करती है...सम्भव है अज्ञानता/मोह/अविद्या के कारण वह आनन्द-प्राप्ति के लिए विपरीत साधनों का भी प्रयोग करे ।

आत्मा परिपूर्ण, अक्षीण और सर्वथा दुःख रहित आनन्द चाहती है और वह आनन्द आत्मा के भीतर ही रहा हुआ है । उसे पाने के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती है । आत्मा पर से जब मोह-अविद्या-अज्ञान का साम्राज्य दूर हो जाता है, तब आत्मा अक्षय, अव्याबाध और परिपूर्ण आनन्द का अनुभव करती है ।

2 जगत्कर्त्ता

प्रश्न 11 :– सृष्टि या जगत् का कर्त्ता कौन है ?

उत्तर :– सृष्टि / जगत् का कर्त्ता कोई नहीं है । यह जगत् अनादिकाल से विद्यमान है और रहेगा । **'जीव अनादि है ।'** इस बात को स्वीकार करने के बाद सृष्टि को आदि मानना न्याय संगत नहीं है । जिस घर का पाँच वर्ष पूर्व ही निर्माण हुआ है, **'उस घर में मैं पच्चीस वर्ष से रह रहा हूँ'** यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है, उसी तरह आदि सृष्टि में अनादि आत्मा रही हुई है, इस बात का स्वीकार भी उतना ही असत्य है ।

'जीव अनादि है' इस मान्यता के स्वीकार के बाद **'जगत् का कर्त्ता कोई ईश्वर है–'** यह मान्यता भी टिक नहीं सकती है ।

जगत्कर्त्ता ईश्वर मानने पर कई प्रश्न खड़े होते हैं–

(1) सृष्टि-निर्माण के पूर्व अनादि जीव का अस्तित्व कहाँ था ?

(2) उस समय वह जीव कर्म से बद्ध था या कर्म से मुक्त था ?

सृष्टि-निर्माण के पूर्व यदि वह जीव जन्म-मरण से रहित था, तब तो जगत् का निर्माण कर ईश्वर ने उस जीव को दुःख में डाल दिया यह बात सिद्ध हो जाएगी ।

समुद्र में स्वतंत्र रूप से घूमनेवाले मत्स्य को जाल में फँसाकर/ पराधीन बनाकर मच्छीमार ने मछली पर उपकार किया अथवा अपकार ? इसी प्रकार अनादि काल से स्वतंत्र आत्मा को जन्म और कर्म के जंजाल में डालने वाले ईश्वर के प्रति उपकारक व पूज्यता की बुद्धि कैसे पैदा होगी ?

यदि दूसरे विकल्प का स्वीकार कर, सृष्टि के पूर्व जीव को कर्मबद्ध माना जाय तब तो यही बात सिद्ध होगी कि 'सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व भी सृष्टि थी ।'

ईश्वर को जगत्कर्त्ता रूप में मानने से और भी अनेक आपत्तियाँ पैदा होती हैं–

(1) आत्मा ने ईश्वर का क्या गुनाह किया कि जिसके फलस्वरूप ईश्वर ने सृष्टि का सर्जन कर स्वतंत्र आत्मा को गर्भावास और जन्मादि के असह्य दुःख दिए ।

(2) बिना कारण आत्मा को दुःख देने वाला ईश्वर दयालु कैसे कहलाएगा ?

(3) सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, जन्म-मरण आदि सब देनेवाला ईश्वर है, यदि ऐसा मानें तो वह ईश्वर थोड़ें का पक्षपाती और अनेक का शत्रु सिद्ध होगा और जिसमें पक्षपात और शत्रुता हो, वह ईश्वर कैसे कहलाएगा ?

(4) छोटे बच्चों को भी अनेक रोग और मृत्यु को देने वाला ईश्वर दयालु कैसे कहलाएगा ? यदि बालक ने ईश्वर का कोई गुनाह किया हो तो ईश्वर को वह गुनाह माफ कर देना चाहिये । बड़ा आदमी भी ईश्वर के आगे तो बालक की तरह अज्ञानी ही है, अतः उसके अपराध को भी क्षमा कर देना चाहिये, परन्तु व्यवहार में यह दिखाई नहीं देता है, छोटे बालक से लेकर बड़े व्यक्ति को भी सुख-दुःख भोगना ही पड़ता है ।

(5) उपर्युक्त दोषों से बचने के लिए यदि यह माना जाय कि सुख-दुःख देने वाला ईश्वर नहीं है, वह तो स्व-स्व कर्म के अनुसार मिलता रहता है, तो फिर प्रश्न खड़ा होगा कि जीवात्मा को कर्म कराने वाला कौन ? यदि ईश्वर की प्रेरणा से जीवात्मा कर्म करता हो तो उस कर्म की सजा ईश्वर को होनी चाहिये अथवा जीवात्मा को ? गुनाह करने वाले की अपेक्षा गुनाह कराने वाला अधिक सजा का पात्र होता है । इसके साथ ही चोरी कराने वाला और सजा देना वाला दोनों एक ही व्यक्ति कैसे हो सकेगा ?

यतः यही बात सिद्ध होती है कि आत्मा जो कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म करती है, वह ईश्वर-प्रेरित नहीं है, बल्कि आत्मा के द्वारा स्वयंसिद्ध है । अतः सुख-दुःख का उत्पादक ईश्वर नहीं, बल्कि जीवात्मा कृत शुभ-अशुभ कर्म ही है । समस्त सुख-दुःखों का उत्पादक ईश्वर माना जाय और कर्म में कुछ भी शक्ति न मानी जाय तो समस्त पदार्थ-विज्ञान शास्त्र प्रसिद्ध साबित होगा ।

पदार्थ के परमाणुओं में फल देने की शक्ति रही हुई है । पदार्थ में रही हुई शक्ति और स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकार के फल देते हैं । शक्कर का स्वभाव कटु है, इमली का स्वभाव कट्टापन है...अतः उनका उपयोग करने वाला भी उसी प्रकार के फल का अनुभव करता है ।

सोमल (जहर) के भक्षण से व्यक्ति मर जाता है, उस समय यह मरण ईश्वर ने दिया है, ऐसा मानना केवल मूर्खता ही है । सोमल का निर्माण तथा प्रकार के विषैले परमाणुओं से हुआ है, जिसके फलस्वरूप उसका उपयोग करने वाला मर जाता है । उसी प्रकार कर्म के परमाणु भी जिस प्रकार के स्वभाव वाले होते हैं, उसी प्रकार से आत्मा सुख-दुःख प्राप्त करती है । अच्छे काम करने वाले को सुख मिलता है और बुरे काम करने वाले को दुःख मिलता है । इस प्रकार किसी भी कर्म का फल ईश्वर देता है, ऐसा मानने के बजाय **'कर्म'** में ही फल देने की शक्ति माननी चाहिये ।

गुन्हेगार और बेगुनाह व्यक्ति के बीच प्रत्यक्ष भेद है । इससे भी कर्मशक्ति सिद्ध हो जाती है । जिस व्यक्ति ने गुनाह नहीं किया है, उसे पुलिस को देखकर कोई भय पैदा नहीं होता है और जिसने गुनाह किया है, वह व्यक्ति पुलिस को देखकर अवश्य भयभीत होता है, उसके हृदय में धड़कन पैदा होती है । इससे सिद्ध होता है कि गुनहगार के हृदय में जो वेदनाएँ उत्पन्न होती है, उसका कारण उसका कर्म ही है । भय, पश्चात्ताप, रोग अथवा दुःख रूप में गुनाह की सजा अवश्य मिलती है ।

पाप अथवा पुण्य, इन दोनों में से एक भी ईश्वर नहीं कराता है, परन्तु आत्मा ही स्वतंत्र रुप से करती है । **'मनुष्य के कल्याण के लिए ही ईश्वर शुभाशुभ कर्म का फल देता है'** यह बात भी बराबर नहीं है ।

'जीव पाप करने में स्वतंत्र है और सजा स्वतंत्र रूप से नहीं भोगता है–' यह बात भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योंकि ऐसा मानने से कर्मशक्ति का महत्त्व नहीं रहता है । ईश्वर को न माने तो भी अच्छा-बुरा

कर्म अच्छे-बुरे फल को देता ही है, अतः सृष्टिकर्त्ता रूप में तथा कर्मफलदाता के रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है ।

प्रश्न 12 :– सृष्टि के सम्बन्ध में वेदान्त-दर्शनादि की क्या मान्यता है ?

उत्तर :– वेदान्त-दर्शन ब्रह्म को अनादि मानता है और जीव को ब्रह्म में से अलग पड़नेवाला रजकण मानता है । अग्नि में से अग्नि-कण की भाँति ब्रह्म में से जीव अलग पड़ता है । परन्तु इस प्रकार जीव की उत्पत्ति तर्क-संगत नहीं है ।

'जीव की किसी काल में उत्पत्ति हुई है–' यह बात तर्कविरुद्ध है । इसीलिए नैयायिक जीव की अनादि-सत्ता का स्वीकार करते हैं । परन्तु वे भी जगत् की आदि मानते है, अतः उनका मत भी असत्य सिद्ध होता है ।

जीव को अनादि और सृष्टि की आदि मानने से उनका मत वेदान्त की अपेक्षा भी पंगु सिद्ध होता है । **'पचास वर्ष के पुत्र की माता बीस वर्ष की है–'** की तरह ही जीव की अनादि सत्ता स्वीकार कर सृष्टि की आदि मानने की बात अत्यन्त विचित्र लगती है । जीव को अनादि माना जाय तो सृष्टि को भी अनादि ही मानना चाहिये ।

प्रश्न 13 :– जीव अनादि है अथवा माता-पिता के संयोग से पैदा हुआ है ?

उत्तर :– माता-पिता के संयोग से जीव की उत्पत्ति नहीं होती है । हाँ ! जीव को पोषण अवश्य मिलता है । मिट्टी और जल के संयोग से कोई वृक्ष पैदा नहीं होता है, वृक्ष तो बीज होने पर ही पैदा होता है । हाँ ! मिट्टी और पानी उसके विकास में सहायक अवश्य बनते हैं । इसी प्रकार जीव रूपी बीज होने पर ही रज और वीर्य के संयोग से उसकी (जीव की) वृद्धि होती है ।

बीज स्वयं ही वृक्ष रूप में परिणत होता है, अतः वृक्ष अवस्था में बीज को वृक्ष से अलग नहीं कर सकते हैं । उसी प्रकार जीव के आत्म प्रदेश शरीर के समस्त अंगों में एकमेक हो जाने से उन्हें शरीर से अलग

नहीं कर सकते हैं ।

इंजन ड्राइवर इंजन में होता है फिर भी उससे अलग होता है, उसी प्रकार जीव रूपी ड्राइवर अपने लक्षणों के द्वारा शरीर से भिन्न होता है, फिर भी वह शरीर में ही होने से उसे शरीर से भिन्न नहीं गिना जाता है । शरीर आदि की उत्पत्ति की कल्पना की जा सकती है, परन्तु आत्मा की उत्पत्ति की कल्पना नहीं कर सकते हैं । इसी से सिद्ध होता है कि आत्मा अनादि है । अनादि अर्थात् वस्तु विद्यमान होने पर भी जिसकी आदि न हो । जीव का स्वरूप भी इसी प्रकार का है, वह भी अनादि है ।

प्रश्न 14 :– गर्भावास और जन्मदशा के दुःख प्रत्येक जीवात्मा ने अनुभव किए हैं, फिर भी उन्हें भूल क्यों जाते हैं ?

उत्तर :– उन दुःखों के विस्मरण का कारण काल है, काल सर्वभक्षी है । जन्मकाल के बाद दुनिया का बोध होता है, तब पूर्वकाल में अनुभूत वेदनाओं का विस्मरण हो जाता है ।

जिसे बिच्छू ने डंख दिया है, उसे उस समय बिच्छू के डंख की असह्य वेदना का अनुभव होता है, परन्तु दो-चार दिन बीतने के बाद उस वेदना का विचार करने पर भी (उस वेदना का) पूरा-पूरा बोध अथवा साक्षात्कार नहीं हो सकता है । बिच्छू के डंख की वेदना होशपूर्ण अवस्था में अनुभूत की है, जबकि गर्भावास और जन्मादि की वेदना अबोध अवस्था में अनुभूत की है, अतः उसकी याद न आए, वह सहज है ।

बालक का जन्म होता है, तब दाँत बाहर निकलने के लिए कोई छिद्र नहीं होते हैं । जिस प्रकार अंकुर पृथ्वी को भेदकर बाहर निकलता है, उस प्रकार दाँत बाहर निकलते हैं और उस समय बालक को अत्यधिक पीड़ा होती है, उस पीड़ा का हमने भी अनुभव किया है, परन्तु समय बीतने पर हम उस पीड़ा को भूल जाते हैं, वह पीड़ा हमें याद नहीं रहती है, उसमें काल ही कारण है ।

प्रश्न 15 :– मृत्यु से क्यों नहीं डरना चाहिये ?

उत्तर :– जन्म के साथ ही मृत्यु जुड़ी हुई है । जो जन्मा है,

उसे अवश्य मरना पड़ता है । यह एक सनातन नियम है । जन्म के बाद मृत्यु से कोई बच नहीं पाया है, अतः मृत्यु से भय रखना निरर्थक ही है, व्यर्थ ही सन्ताप बढ़ाने वाला है । जो वस्तु अनिवार्य है, उससे बचने के लिए दौड़-धूप करना निरर्थक ही है–अधिक दुःखी बनने की ही मार्ग है ।

जन्म को रोका जा सकता है । जन्म के कारण ही जीवात्मा को जरा-मरण के दुःख सहने पड़ते हैं । अतः पुनः जन्म न लेना पड़े उसके लिए प्रयत्न करना, यही सच्चा पुरुषार्थ है ।

'मैं मर न जाऊँ ?' इसका भय सामान्य जन को होता है, परन्तु मुझे **'गर्भावास के दुःख न सहने पड़े, मुझे पुनः जन्म लेना न पड़े',** इसका भय धर्मीजन को ही होता है ।

सर्वभक्षी काल जन्म-समय के दुःख भुला देता है, अतः जीवात्मा को मरण का ही भय सताता है और वह **'सर्व दुःख का कारण मृत्यु है'** ऐसा मानकर उससे बचने के लिए प्रयत्नशील बनता है । परन्तु वे प्रयास अर्थहीन होने से मरण का दुःख तो अवश्य भोगना ही पड़ता है और साथ ही जन्म-निवारण के लिए योग्य उपाय न करने से पुनः पुनः नए जन्मों की पीड़ा भी भोगनी ही पड़ती है ।

तत्त्वदृष्टा आत्मा मरण के भय को दूर कर जन्म के वास्तविक भय को दूर करने के लिए ही प्रयत्नशील होती है । वह आत्मा अजन्मा बनने के उपायों में लीन बनकर जन्म के बीजभूत कर्मों को जला देती है । बीज जल जाने पर पुनः अंकुर नहीं फूटता है, उसी प्रकार कर्म जल जाने पर पुनः जन्मरूपी अंकुर नहीं फूटता है और आत्मा मरण आदि के उपद्रवों से मुक्त बन जाती है ।

प्रश्न 16 :– संसार-परिभ्रमण सकारण है अथवा जीव की तरह स्वयंसिद्ध है ?

उत्तर :– जो वस्तु स्वयंसिद्ध हो अथवा निष्कारण बनती हो, उस वस्तु को रोकने का कोई उपाय नहीं है । जो वस्तु सकारण हो अर्थात् कारण से उत्पन्न होती हो, उसे अवश्य रोका जा सकता है । कारण के विराम के साथ कार्य भी बन्द हो जाता है । उदाहरणार्थ–नल

बंद करने पर पानी आगमन स्वतः बन्द हो जाता है ।

जो घटना कभी-कभी बनती हो और कभी-कभी नहीं बनती हो, वह वस्तु अवश्य कारण जन्य ही होती है ।

जो घटना अकारण/निष्कारण बनती हो, वह घटना या तो सदैव बननी चाहिये अथवा उसका सर्वथा अभाव होना चाहिये । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जो घटना अकारण हो...उसका अस्तित्व या तो सदाकाल होगा अथवा उसका सर्वदा अभाव होगा । सकारण वस्तुओं का ही नाश संभव है, निष्कारण वस्तुओं का नाश संभव नहीं है ।

आत्मा को किसी ने पैदा नहीं किया है, अतः उसका कोई नाश भी नहीं कर सकता है ।

संसार-परिभ्रमण आत्मा और कर्म के संयोग से जन्य है, अतः कर्म के वियोग से संसार से प्रतिपक्षी कारणों के सेवन से संसार का नाश हो सकता है ।

प्रश्न 17 :– जीव के सम्बन्ध में नास्तिक-दर्शन की क्या मान्यता है ?

उत्तर :– नास्तिक दर्शन आत्मा को उत्पत्तिमान् मानता है और उसकी उत्पत्ति में कारण स्वरूप पृथ्वी-पानी आदि पंचभूत मानता है । उन पाँच भूतों के संयोग से आत्मा उत्पन्न होती है और उन भूतों के वियोग / विलय से आत्मा नष्ट होती है, परन्तु यह बात बिल्कुल गलत है । वे कहते हैं **'हम प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं ।'** क्या पाँच भूतों के संयोग से उत्पन्न हुए जीव को उन्होंने देखा है ?

जिस प्रकार आस्तिक व्यक्ति जीव को प्रत्यक्ष रूप में नहीं देख सकता है, उसी प्रकार नास्तिक भी जीव को प्रत्यक्ष देख नहीं सकता है, क्योंकि जीव अतीन्द्रिय है, नास्तिकों ने अतीन्द्रिय जीव को उत्पन्न होते हुए कब देखा है ? किसी भी इन्द्रिय के द्वारा अप्रत्यक्ष, ऐसे जीव के संदर्भ में **'जीव उत्पन्न होता है और नाश पाता है ।'** कहना प्रलाप मात्र ही है । नास्तिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष से जीव को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते हैं, तब उसे **'उत्पत्तिमान्'** कैसे कह सकते हैं ? जहाँ वस्त्र ही न हो तो

उसे पहिनने की बात कैसे कर सकते हैं ?

'चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, परन्तु आत्मा का प्रत्यक्ष चेतना से ही होता है' इस प्रकार यदि नास्तिक कहे तो उसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष को छोड़कर अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है जो उसके मत से विरुद्ध है ।

पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, इसीलिए भिन्न-भिन्न प्रमाणों का स्वीकार करना पड़ता है । जगत् में सभी पदार्थ एक ही समान हों तो उन्हें एक ही प्रमाण से जान सकते हैं, परन्तु पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं अतः प्रमाण भी भिन्न-भिन्न मानने पड़ते हैं ।

जीव, स्वर्ग नरक, पुण्य, पाप आदि अतीन्द्रिय और परोक्ष पदार्थ हैं, अतः इनके बोध के लिए अतीन्द्रिय और परोक्ष प्रमाण भी मानना चाहिये । अतीन्द्रिय-प्रमाण के स्वीकार बिना पाँच भूतों के सहयोग से जीव उत्पन्न होता है, इत्यादि बातें करना, यह स्ववचन-विरोधी ही है ।

प्रश्न 18 :– आत्मा के सम्बन्ध में वेदान्त दर्शन की क्या मान्यता है ?

उत्तर :– वेदान्ती नास्तिक की अपेक्षा एक कदम आगे बढ़े हुए हैं । नास्तिक कहता है-**'जो आंख से दिखाई दे, उसे ही मानना ।'** जबकि वेदान्त दर्शन के प्रणेता कहते हैं **'जो आँख से दिखाई दे उसे गलत मानना ।'**

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' ब्रह्म सत्य और जगत् झूठा है । इसका अर्थ यह हुआ कि जो आँखों से दिखाई दे वह सब झूठ है और जो कभी दिखाई नहीं देता है, वह सब सत्य है । वेदान्ती के मतानुसार जो भी प्रत्यक्ष है, वह सब भ्रान्त है ।

नास्तिक कहता है–पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि हमें दिखाई नहीं देता है, अतः हम उसे कैसे मानें ? जबकि वेदान्ती प्रत्यक्ष का ही अपलाप करते हैं ।

आत्मा सिवाय सभी वस्तुएँ असार हैं, यह कहने के बजाय

'असत्' कहने के लिए वेदान्ती तैयार हुए हैं ।

संसार असार होने पर भी उसके अस्तित्व का इन्कार कैसे कर सकते हैं ? **'जहर खराब है'** ऐसा हम कह सकते हैं, परन्तु **'जगत् में जहर नहीं है'** ऐसा कैसे कह सकते हैं ।

'असार' शब्द वस्तु की अनुपयोगिता सिद्ध करता है, जबकि **'असत्'** शब्द वस्तु के अस्तित्व का इन्कार करता है । संसार यदि असत् ही हो तो आत्मा पर उसका असर कैसे हो सकता है ? क्या आकाशपुष्प का किसी के ऊपर असर होता है ? अतः संसार असत् नहीं किंतु असार है, यही सत्यस्थिति है । संसार की असत्ता के ज्ञान से नहीं, किंतु असारता के सम्यग्ज्ञान से ही आत्मा मोह के बंधन से मुक्त बन सकता है ।

3 कर्म

प्रश्न 19 :– जीव पहले या कर्म ?

उत्तर :– 'जीव पहले और फिर कर्म' यह बात तर्क-संगत नहीं है । कर्म रहित जीव को कर्म करने का प्रयोजन क्या है ? यदि कर्म रहित जीव भी कर्म करने लग जाय तब तो मुक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा ।

'कर्म पहले और जीव बाद में' यह बात भी युक्तिसंगत नहीं है । जीव रूपी कर्त्ता के बिना कर्म कैसे हो सकेगा ?

जीव और कर्म की एक साथ उत्पत्ति भी मानने योग्य नहीं है । कर्त्ता और कर्म समकाल में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, क्योंकि कर्म को करने वाले जीव की उपस्थिति पहले चाहिये ।

जगत् में कर्म नहीं है, किन्तु अकेला जीव ही है, यह बात भी उचित नहीं है । जगत् की प्रत्यक्ष विचित्रताएँ अकेले जीव से घट नहीं सकती हैं । जीव और कर्म के संयोग से ही जगत् की चित्र-विचित्रता घट सकती है । **'जीव और कर्म का कोई अस्तित्व नहीं है'** यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है ।

'कुछ भी नहीं है' यह ज्ञान किसे हुआ ? यह ज्ञान जिसे हुआ है, वह तो है ही । अतः जीव और कर्म का बीजांकुर की तरह अनादि सम्बन्ध मानना चाहिये, इसी से जगत् की व्यवस्था घट सकती है ।

प्रश्न 20 :– दुःख की द्वेषी होने पर भी आत्मा अशुभ-कर्म क्यों करती है ?

उत्तर :– भौतिक सुख को प्राप्त करने की तीव्र उत्सुकता और वास्तविक सुख की प्राप्ति के उपाय की अज्ञानता के कारण भी आत्मा अशुभ-कर्म करने के लिए प्रेरित होती है । कई बार सुख के उपाय का ज्ञान होने पर भी कर्म से प्रेरित होकर दुःख के कारणों का सेवन करती हुई दिखाई देती है ।

चोर, चोरी के कष्टों को जानते हुए भी चोरी करता है। व्यभिचारी, व्यभिचार की पीड़ाओं को जानने / समझने पर भी व्यभिचार करता है। रोगी, कुपथ्य के दुःख को जानने पर भी कुपथ्य का सेवन करता है। जुआरी, जूए के अशुभ परिणामों को जानने पर भी जूआ खेलता है। इससे स्पष्ट है कि अज्ञानता मोहादि के कारण आत्मा दुःख की द्वेषी होने पर भी, आगामी काल में जिनसे दुःख आने वाला है, ऐसे ही कर्म करती है।

प्रश्न 21 :– जीव अरूपी होने पर भी इन्द्रिय और हस्त आदि की मदद बिना किस प्रकार कर्म को ग्रहण करता है ?

उत्तर :– संसारी जीव अनादिकर्मसम्बद्ध होने से एकान्ततः अरूपी नहीं है, फिर भी चर्मचक्षु से अगोचर होने से उसे अरूपी कहते हैं।

अरूपी आत्मा किस प्रकार कर्म ग्रहण करती है ? यह बात समझने के लिए अनेक दृष्टांत हैं–

वनस्पति इन्द्रिय और हाथ आदि की मदद बिना ही आहार ग्रहण करती है। सिद्ध की गई पारे की गुटिका स्वयमेव दुग्धादि का पान करती है। नारियल का फल वृक्ष के मूल में रहे हुए पानी को हाथ-पैर बिना ही ग्रहण करता है। ध्यानस्थ आत्माएँ इन्द्रियों की मदद बिना ही ध्यान करती हैं, जिह्वा की मदद बिना ही जाप करते हैं और कान की मदद बिना ही शब्द श्रवण करते हैं, उसी प्रकार आत्मा भविष्य में होने वाली घटना से प्रेरित होकर अथवा काल-स्वभाव आदि पाँच समवायों से प्रेरित होकर हाथ आदि की मदद बिना ही कर्मों को ग्रहण करती है।

प्रश्न 22 :– जीव पर लगे हुए कर्म दिखाई क्यों नहीं देते हैं ?

उत्तर :– जिस प्रकार गन्ध और शब्द के पुद्गल अधिक संख्या में एकत्र होने पर भी दिखाई नहीं देते हैं तथा सिद्ध किए गए पारे के द्वारा भक्षित सुवर्ण दिखाई नहीं देता है, उसी प्रकार पिंडीभूत बने अनन्त कर्म आत्मा पर लगे हुए होने पर भी दिखाई नहीं देते हैं।

प्रश्न 23 :– अमूर्त आत्मा, मूर्त कर्मों को किस प्रकार धारण करती है ?

उत्तर :– इसके लिए द्रश्यमान शरीर ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । आत्मा अमूर्त होने पर भी स्थूल शरीर को धारण कर सके, तो सूक्ष्म कर्मों को धारण करने में आपत्ति ही क्या है ? इसी प्रकार आत्मा अरूपी होने पर भी विषय, कषाय, मिथ्यात्व और अविरति आदि कर्मजनित विकारों से विकृत बनी हुई प्रत्यक्ष दिखाई देती है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अमूर्त आत्मा को मूर्त कर्म से सम्बद्ध स्वीकारना चाहिये ।

प्रश्न 24 :– जीव में कर्म-ग्रहण करने का स्वभाव अनादि है, तो फिर उसे कैसे बदला जा सकता है ?

उत्तर :– अनादि स्वभाव भी प्रयत्न द्वारा बदला जा सकता है । पारे का चंचल स्वभाव भी विशिष्ट से बदल सकते हैं । मंत्र प्रयोग, औषधि, सत्य, शील और तप के आचरण से अग्नि की दाहकता को बदला जा सकता है ।

लोहचुंबकपाषाण भी अग्नि से संतप्त होने के बाद अथवा अन्य औषधियों के प्रयोग से लोहग्रहण करने का अपना स्वभाव छोड़ देता है । वायु का स्वभाव चंचल होने पर भी उसे मशक में बन्द कर सकते हैं । बीज में अंकुरोत्पत्ति का स्वभाव होने पर भी उसे जला दिया जाय तो वह अंकुरोत्पत्ति का अपना स्वभाव छोड़ देता है, उसी प्रकार जीव में कर्मग्रहण का स्वभाव मुक्त अवस्था में नष्ट हो जाता है ।

प्रश्न 25 :– जगत् के जीव कर्मानुसार सुख-दुःख का अनुभव करते हैं तो उन कर्मों का प्रेरक कौन ?

उत्तर :– सुख-दुःख देने में कर्म का प्रेरक कोई नहीं है । देव, दैवत, भाग्य, विधि, विधाता, काल आदि उसी कर्म के पर्याय हैं । किसी की प्रेरणा बिना ही कर्म, अपने तत् तत् कर्मानुसार योग्य फल प्रदान करता है । जो जीव अजीव शरीर के साथ सम्बन्ध रखकर वर्तमान में जीते हैं, भूत काल में जीते थे और भविष्य काल में जीएंगे, उन सबका कर्म के साथ त्रैकालिक सम्बन्ध है । यह सम्पूर्ण विश्व

षड्द्रव्य और पंच समवायमय हैं। पंचसमवाय के सामर्थ्य से जीव कर्मों को ग्रहण करता है, उसे धारण करता है और उसका वेदन करता है।

प्रश्न 26 :– कर्म जड़ हैं, अपने भोगकाल को जानते नहीं हैं और आत्मा दुःख की इच्छावाली नहीं है फिर भी आत्मा दुःख के अधीन क्यों बनती है ?

उत्तर :– कर्म जड़ होने पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव आदि की सामग्री की विशिष्ट अनिवार्य शक्ति से प्रेरित होकर स्वकर्त्ता-आत्मा को बलात्कार से दुःख देता है।

जिस प्रकार अन्न जड़ होने पर भी शरीर में कफ, पित्त और वायु के विकार पैदा करता है। औषध, विष, भस्म और पारा आदि अपने-अपने परिणाम काल में सुख-दुःख का अनुभव कराते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग, शीतला, क्षय, पक्षाघात, शीतांग आदि अपने-अपने काल में परिपक्व बनते हैं। पित्तज्वर, कफज्वर, वातज्वर-त्रिदोष ज्वर आदि अमुक समय के बाद ही शांत होते हैं और चले जाते हैं, उसी प्रकार कर्म भी जड़ होने पर भी अमुक समय बाद ही फल देता है।

प्रश्न 27 :– इस जन्म में किए गए कर्म इसी जन्म में फल क्यों नहीं देते हैं ?

उत्तर :– कर्म चार प्रकार से फल देते हैं–

1. इस जन्म में किए गए कर्म इसी जन्म में उदय में आते हैं, जैसे सिद्ध-साधु, राजा आदि को दिया गया दान इसी जन्म में फल देता है।

2. इस जन्म में किया गया कर्म आगामी जन्म में फल देता है। जैसे-सती का सतीत्व, शूरवीर का शौर्य, मुनियों का तप-संयम आदि अथवा अभक्ष्य-भक्षण, अपेय पान आदि।

3. गत जन्म में किए गए कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है। जैसे–एक व्यक्ति के घर पुत्र का जन्म होता है, वह स्वयं दुःखी होता है और परिवार को भी दुःखी करता है। उसी समय दूसरे घर में भी पुत्र का जन्म होता है वह स्वयं सुखी होता है और परिवार को भी सुखी करता है।

4. अन्य जन्मों में किये गए कर्म का फल अन्य जन्म में मिलता

है । जैसे-कुछ कर्म ऐसे होते है जो देव और नरक गति प्रायोग्य होते हैं, वे मनुष्य-जन्म में नहीं फलते हैं । भूत भव में उपार्जित वे कर्म इस वर्तमान भव को छोड़कर अनागत भव में फलते हैं ।

शास्त्र में कर्म के तीन प्रकार भी बताए गए हैं–भुक्त, भोग्य और भुज्यमान । ग्रहण किए गए कवल समान भुक्त कर्म हैं । ग्रहण करने योग्य कवल समान भोग्य कर्म हैं और ग्रहण किए जाते हुए कवल समान भुज्यमान कर्म हैं ।

प्रश्न 28 :– जैन दर्शन द्वारा मान्य मुक्ति का स्वरूप और उसका उपाय क्या है ?

उत्तर :– जैन दर्शन की मान्यतानुसार संसार में जीवों के दो प्रकार हैं–भव्य और अभव्य । भव्य अर्थात् मोक्ष-गमन की योग्यता वाले जीव । अभव्य अर्थात् मोक्ष-गमन के लिए अयोग्य जीव ।

विश्व की समस्त मिट्टियों में 'घट' (घड़ा) बनने की योग्यता होने पर भी जिस प्रकार सानुकूल-तदनुरूप संयोगाभाव के कारण सभी मिट्टियाँ घट नहीं बन पाती हैं, उसी प्रकार मोक्ष गमन की योग्यता होने पर भी तदनुरूप संयोगाभाव के कारण सभी जीव मोक्ष प्राप्त नहीं करते हैं ।

जिस प्रकार बीज के जल जाने से, उसमें से अंकुर नहीं फूटता है, उसी प्रकार पुनर्जन्म में कारणभूत कर्मबीज के जल जाने से मुक्तात्माएँ पुनःजन्म धारण नहीं करती हैं ।

जैन दर्शन की मान्यतानुसार मुक्तात्माएँ अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख आदि से युक्त होती हैं ।

नैयायिक दर्शनकार मुक्तात्मा में केवल दुःखाभाव मानते हैं, परन्तु सुख नहीं मानते हैं ।

उनकी मान्यतानुसार यदि दुःखाभाव को ही मोक्ष मान लिया जाय तो मूर्च्छा, निद्रा व बेहोशी की अवस्था में भी मोक्ष मानने की आपत्ति आएगी ।

यदि वे यह प्रश्न खड़ा करें कि–**'मुक्ति में सुख मानने से सुख के रागी ऐसे मुनि को मोक्ष कैसे सम्भव है ?'** तो उसके सामने यह

प्रश्न खड़ा कर सकेंगे कि दुःख रहित मोक्ष की इच्छा वाले दुःख के द्वेषी मुनि को भी मोक्ष कैसे होगा ?

समाधान यही है कि जिस प्रकार दुःख के विषय में द्वेष रहित मुनि को मोक्ष प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार सुख के विषय में आसक्ति रहित मुनि को भी मोक्ष-प्राप्ति में कोई आपत्ति नहीं है ।

'एक सत्त्वे द्वयं नास्ति' एक ही घट होने पर भी **'यहाँ घट-पट उभय नहीं है',** ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है । उसी प्रकार मोक्ष में अकेला सुख होने से **'सुख दुःख उभय नहीं है'** ऐसा जरूर कह सकते हैं ।

सांसारिक सुख मोहजन्य है, जबकि मोक्षसुख सुविशुद्ध आत्म-रमणता स्वरूप होने से मोहजन्य दुःख और क्लेश से रहित है ।

कुछ दर्शन वाले कहते हैं-**'मात्र ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है'** परन्तु यह कहना असत्य ही है । स्त्री भोजन आदि के ज्ञान मात्र से उसके भोग का आनन्द प्राप्त नहीं होता है । उसी प्रकार मात्र क्रिया से ही मोक्ष मिलता है–यह कहना भी युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि मिथ्याज्ञान वाले पुरुषों को प्रयत्न करने पर भी फल नहीं मिलता है, यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है । इतना ही नहीं, ज्ञान रहित क्रिया तो मूर्च्छादिक अवस्था में भी होती है, परन्तु उसका कोई अर्थ नहीं रहता है, अतः मोक्ष के लिए ज्ञान और क्रिया उभय की आवश्यकता रहती है ।

मोक्ष के अन्य-अन्य साधनों का समावेश भी ज्ञान-क्रिया में हो जाता है । अतः जैनों के द्वारा स्वीकृत ज्ञान-क्रिया ही मोक्ष मार्ग है, यह सिद्ध होता है ।

प्रश्न 29 :– साधुपना सिद्धि का मार्ग कैसे है ?

उत्तर :– स्वामी के शील का अनुसरण करना सेवक का कर्त्तव्य है । इस न्याय के अनुसार मुमुक्षु **'सिद्ध'** के गुणों का अनुसरण करते हैं, अतः वे सिद्धि के मार्ग पर हैं, यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है ।

सिद्ध भगवन्त अशरीरी हैं अतः साधु भी शरीर के ममत्व का त्याग करते हैं ।

सिद्ध भगवन्त अमूर्त हैं, अतः वे भी मूर्त शरीर के संस्कारों का त्याग करते हैं ।

सिद्ध भगवन्त निराहारी हैं, अतः साधु भगवन्त भी पर्व तिथि आदि दिनों में आहार का त्याग करते हैं ।

सिद्ध भगवन्त द्वेषमुक्त हैं, अतः साधु भगवन्त भी द्वेष का त्याग कर मैत्री भाव धारण करते हैं ।

सिद्ध भगवन्त वीतराग हैं, अतः साधु भगवन्त भी बन्धु जन आदि के स्नेह का त्याग करते हैं ।

सिद्ध भगवन्त निरंजन हैं, अतः साधु भगवन्त भी रति और प्रीति के लेप से मुक्त बनने के लिए प्रयत्न करते हैं ।

सिद्ध भगवन्त निष्क्रिय हैं, अतः साधु भगवन्त भी आरम्भ समारम्भ का त्याग करते हैं ।

सिद्ध भगवन्त निस्पृह हैं, अतः साधु भगवन्त भी सभी प्रकार की ममता और स्पृहाओं का त्याग करते हैं ।

सिद्ध भगवन्त आनन्द से परिपूर्ण हैं, अतः साधु भगवन्त भी सन्तोष और समभाव के सुख का निरन्तर आनन्द मानते हैं ।

इसी प्रकार सत्य, शील, क्षमा, सन्तोष, परोपकार, निर्दूषणता, निःसंगता, अप्रतिबद्धचारिता, निर्विकारिता, निश्चलता, अस्वामिसेविता, निर्भीकता, अल्पाशनता, संसारसम्बन्धजुगुप्सिता आदि मुमुक्षु के अल्प गुण भी सिद्धात्मा के अनुकरण रूप होने से आगे बढ़ते-बढ़ते सिद्धिक्षेत्र में अनन्त और परिपूर्ण बनते हैं ।

प्रश्न 30 :– शरीर और इन्द्रिय बिना सिद्धात्मा को सुख कैसे माना जाय ?

उत्तर :– निद्रावस्था में इन्द्रियजन्य प्रवृत्ति न होने पर भी सुख का अनुभव होता है । जाग्रत अवस्था में परम सन्तोषी व्यक्ति स्पर्शन आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति बिना भी आनन्द का अनुभव करता है और उसका सुख वही जानता है ।

सिद्धात्माओं को इन्द्रियों के विषय तथा हस्त-पाद आदि की

क्रियाएँ नहीं होने पर उन्हें अनन्त सुख है और उनका सुख वे ही जानते हैं, परन्तु उन सुखों के ज्ञान से हीन आत्मा उसे नहीं जान सकती है। अरिहन्त परमात्मा भी साक्षात् अपनी वाणी से सिद्धों के वास्तविक सुख का वर्णन करने में असमर्थ हैं, अतः वह सुख अनिर्वचनीय है।

प्रश्न 31 :– संसार के भोग-सुख रोगरूप क्यों कहलाते हैं ?

उत्तर :– जगत् में जो भी रोग होते हैं वे सब आहार आदि के उपभोग से ही होते हैं। अणाहारी दशा प्राप्त आत्माओं को रोग नहीं होते हैं। इस प्रकार रोगों का कारण आहार आदि का भोग है, इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके संसार के सुख-भोग रोगरूप कहलाते हैं।

रोगी ही रोगों की दवा कराने के लिए आतुर होता है, परन्तु नीरोगी व्यक्ति कभी भी दवा कराने के लिए उत्कण्ठित नहीं होता है, उसी प्रकार तृष्णा रूपी रोग के कारण ही जीव भोग के लिए आतुर होता है, इस कारण भी भोग को रोग की उपमा दी गई है।

रोग के प्रतिकार में जिस प्रकार दुःख के अभाव में सुख-बुद्धि पैदा होती है, उसी प्रकार विषय-भोगों में दुःख का प्रतिकार ही सुख रूप माना जाता है। **'भूख के दुःख का शमन न हो'** तब तक ही खाने में आनन्द आना चाहिये, परन्तु वैसा तो नहीं होता है, बल्कि अधिक खाने से अजीर्ण-ज्वर आदि की पीड़ाओं का ही अनुभव होता है। तृषा शान्त हो जाने के बाद भी अधिक जलपान किया जाय तो या तो उल्टी होगी अथवा पेट भारी हो जाएगा।

ठंडी हवा भी उतने ही प्रमाण में अनुकूल रहती है, जितने प्रमाण में गर्मी हो, उससे अधिक ठण्डक सुख के बजाय दुःखदायी बनती है।

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के भोग भी, मात्र विपुलता के अनुसार सुखदायी नहीं बनते हैं, बल्कि तृष्णा रूपी दुःख के अनुसार ही सुखदायी बनते हैं। मात्रा या प्रमाण से अधिक जोरदार शब्द कान को बधिर

बनाता है । मात्रा से अधिक या सूक्ष्म रूप दर्शन आँख को कमजोर करता है, इसी प्रकार भोग भी प्रमाण से अधिक हों तो सुख के बजाय दुःख पैदा करते हैं । प्रमाणोपेत भोग भी स्वतंत्र रूप में सुख रूप नहीं हैं परन्तु दुःख के प्रतिकार रूप बनकर सुख का अनुभव कराते हैं, अतः भोग-सुखों का अनुभव केवल दुःख के प्रतिकार स्वरूप है किन्तु स्वतंत्र सुख के अनुभव रूप नहीं है ।

सांसारिक भोग, अजीर्णादि अथवा ज्वरादि द्रव्य रोगों के कारण तथा तृष्णादि भाव रोगों के कार्य तथा क्षुधादि-शीतादि शारीरिक विकारों के शमन रूप होने से उसे सुख रूप जानने के बजाय रोग रूप जानना यही उचित है । भोगों के इस रोग स्वरूप को **'अक्षिकल्प'** आत्माएँ ही जान सकती हैं ।

चमड़ी पर पड़े रजकण का बोध प्रत्यक्ष चमड़ी को नहीं होता है, परन्तु चक्षु स्वयं पर गिरे रजकणको जान सकती है / समझ सकती है और उसे शीघ्र ही दूर करने का प्रयत्न करती है । उसी प्रकार **'अक्षिकल्प'** अथवा **'चक्षुकल्प'** ज्ञानी पुरुष सांसारिक सुखोपभोग की पूर्व, पश्चात् और वर्तमान अवस्था को अच्छी तरह से जानने वाले होने से उनसे दूर रहने का सतत प्रयास करते हैं । इस प्रकार की सूक्ष्म बुद्धि ज्ञानी और संयमी आत्माओं में ही आ सकती है परन्तु अज्ञानी आत्माओं में उस प्रकार का बोध सम्भव नहीं है ।

प्रश्न 32 :– मोक्ष में सच्चा सुख है, उसका कारण क्या है ?

उत्तर :– मोक्ष में ही सच्चा सुख है संसार में नहीं, इसका कारण है-**'संसार में जितने भी जीव हैं वे राग-द्वेष और मोह से युत् हैं । जीव की यह प्रकृति (विकृति) परम संक्लेश रूप है । इन तीनों की स्थिति में जो सुख होता है, वह अस्थिर, चंचल और दुःख-मिश्रित होता है ।'**

सिद्धात्माओं में राग आदि का अभाव होता है, अतः रागादि के अभाव में सिद्ध (मुक्त) जीवों को संक्लेशरहित जो सुख होता है, वही

सच्चा और स्थिर सुख है । उस सुख को रागादिरहित आत्माएँ ही जान सकती हैं । सन्निपात के अभाव में होने वाले सुख का अनुभव सन्निपात के रोगी को नहीं होता है, उसी प्रकार रागादि के अभाव में होने वाले सुख का अनुभव, रागादि से ग्रस्त आत्मा को कैसे हो सकता है ?

संसार में सुखी गिने जाने वाले व्यक्ति के सिर पर भी मृत्यु का भय बना रहता है । सिद्धात्माओं को मृत्यु का कोई भय नहीं है । अतः सिद्धों का सुख अव्याबाध है ।

संसार का सर्व सुख पराधीन होता है । मोक्ष का अनन्त सुख भी स्वाधीन है अर्थात् आत्मा सिवाय किसी के अधीन नहीं है ।

संसार का सुख मात्र, दुःख के प्रतिकार स्वरूप है और कर्म की उपाधि से जन्य है । सिद्धि का सुख निष्प्रतिकार और स्वाभाविक है तथा निरन्तर भय और व्याबाधा से रहित है, इसीलिए शास्त्र में उसे परमानन्द और सकल कल्याण स्वरूप कहा गया है ।

4 श्रद्धा

प्रश्न 33 :– जो वस्तुएँ नजर से दिखाई नहीं देती हैं, उन्हें कैसे माना जाया ?

उत्तर :– दुनिया में ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ हैं जो नजर से दिखाई नहीं देती हैं, फिर भी उनको स्वीकार करना पड़ता है, उदाहरणार्थ–एक मनुष्य को रात्रि में स्तम्भ पुरुषवत् दिखाई देता है और पुरुष स्तम्भ समान दिखाई देता है । किसी को शंख पीला दिखाई देता है । उन्मत्त व्यक्ति अपने कुटुम्बीजन को भी पहचान नहीं पाते हैं ।

इन्द्रियाँ वे की वे हैं, फिर भी यह भेद कैसे पड़ा ? आप यही कहेंगे कि पहले मन अविकारी था...अब वह मन विकारी बना है । मन की विकृति के कारण ही वस्तु के स्वरूप-बोध में भेद पड़ा है ।

हमारा प्रश्न है कि वह मन दृश्य है अथवा अद्रश्य ?

मन दृश्य नहीं है, फिर भी आपको उसका स्वीकार करना ही पड़ता है ।

इसी प्रकार शब्द, शब्दार्थ, सुख, दु:ख, विषय, कषाय, ईर्ष्या, असूया, चातुर्य, गाम्भीर्य, बुद्धि, आनन्द, शोक आदि ऐसी असंख्य चीजे हैं जिन्हें दृश्यमान नहीं होते हुए भी मानना पड़ता है ।

न्याय, अन्याय, विनय, विवेक, क्षुधा, तृषा, मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ्य, राग, रति, संशय, विपर्यय आदि प्रतिदिन अनुभव योग्य वस्तुएँ भी आँखों से दिखाई नहीं देती हैं, कान से सुनाई नहीं देती हैं, किसी अन्य इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होती हैं–मात्र बुद्धि द्वारा ही उन्हें जाना जा सकता है...और वह बुद्धि इन्द्रिय से अप्रत्यक्ष है...फिर भी हम उनका स्वीकार करते हैं ।

इन्द्रिय से प्रत्यक्ष वस्तुओं को मानना और जो इन्द्रिय से अप्रत्यक्ष हैं, उन्हें नहीं मानना यदि ऐसा नियम करने में आए तो लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता है...तो फिर पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक, पुनजन्म

और पदार्थों के विषय में इन्द्रिय-गोचरता का आग्रह करना केवल दुराग्रह-हठाग्रह ही है ।

परोक्ष पदार्थों का साक्षात्कार इन्द्रियज्ञान द्वारा शक्य नहीं है । इसके लिए तो अतीन्द्रिय ज्ञान की ही आवश्यकता रहती है ।

अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में हमारी बुद्धि काम नहीं कर सकती है, उन पदार्थों के बोध के लिए या तो अतीन्द्रिय ज्ञान चाहिये अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानियों के वचन पर पूर्ण श्रद्धा / विश्वास । यदि उस श्रद्धा का स्वीकार न करें...तो परलोकमार्ग की साधना सम्भव नहीं है और झूठे दुराग्रह से भविष्य को बिगाड़ कर मात्र दुःख का ही सर्जन करने का है ।

परोक्ष पदार्थ को सभी लोग नहीं जान सकते हैं, उसे तो अवधिज्ञानी आदि ही जान सकते हैं ।

इन्द्रिय वाले भी विद्या, मंत्र, आम्नाय, शिक्षा तथा परदेशी वार्ताएँ आदि परोपदेश से ही जान सकते हैं । इन्द्रिय से अगोचर पदार्थों का ज्ञान परोपदेश से ही होता है । स्व शरीरगत रोगों को भी इन्द्रिय द्वारा नहीं जान सकते हैं । वैद्य के कहने से अथवा औषधि आदि से रोग का शमन होने पर ही रोग के अस्तित्व के सम्बन्ध में ज्ञान होता है । उसी प्रकार स्वर्ग-मोक्ष आदि पदार्थों का बोध उनके ज्ञाता महापुरुषों से ही हो सकता है ।

यहाँ बैठे-बैठे जैसे लंका दिखाई नहीं देती है, उसी प्रकार स्वर्ग-मोक्ष भी दिखाई नहीं देते हैं, परन्तु इतने मात्र से ही उनके अस्तित्व में शंका करना योग्य नहीं है ।

प्रश्न 34 :– ज्ञान के बिना क्रिया करने से कोई फायदा है ?

उत्तर :– हाँ ! अवश्य फायदा है ।

क्रिया दो प्रकार से होती है–1. ज्ञान से और 2. श्रद्धा से ।

बालक में बोध का अभाव होने पर भी वह खाने-पीने की क्रिया

करता है और इसी कारण उसका जीवन टिकता है । ज्ञान हो या न हो, क्रिया की है तो उसका तदनुसार फल मिलता ही है ।

'खून की सजा फाँसी' इस प्रकार का जिसे ज्ञान नहीं है, वह व्यक्ति खून करे तो क्या उसे फाँसी की सजा नहीं होती है ? अवश्य होती है ।

'अग्नि जलाती है ।'–इस प्रकार का ज्ञान हो या न हो, फिर भी जो व्यक्ति अग्नि में पैर रखता है, उसका पैर जलता ही है ।

'विष घातक है–' इस प्रकार का ज्ञान हो या न हो, विष खाने वाले को विष मारता ही है ।

ज्ञान हुए बिना क्रिया कभी नहीं करनी चाहिये अथवा उसका लेश भी फल नहीं मिबता है । यह मान्यता ही भ्रमात्मक है ।

दूध और सफेद मिट्टी के भेद को नहीं समझने वाले बालक द्वारा किया गया दुग्धपान क्या निष्फल जाएगा ? क्या उसे दूध का कोई फायदा नहीं होगा ?

बीमार (रोगी) व्यक्ति दवा के गुण-दोषों को जाने बिना भी दवा लेता है और उसे फायदा दिखाई देता है ।

संसार-व्यवहार में कदम-कदम पर ज्ञान रहित क्रियाएँ दिखाई देती हैं । ज्ञान हो या न हो, की गई क्रियाएँ अपना फल देती हैं–तो फिर शायद आपके मन में प्रश्न उठ सकता है–यदि ऐसा ही है तो ज्ञान की जरूरत क्या ? **'दूध का स्वभाव गुणकारक है'** ऐसा बोध हो या न हो, दूध पीने वाले को अवश्य फायदा होता ही है । यह बात सत्य होने पर भी दूध की जगह खड़ी (सफेद मिट्टी) का पानी पीने में आए तो क्या फायदा होगा ?...नहीं होगा । **'खड़ी पीने जैसी नहीं है और दूध ही पीने योग्य है ।–'** इतना ज्ञान तो अवश्य होना ही चाहिये । यह ज्ञान भले स्वयं को हो अथवा अपने स्वामी को ।

जिस वस्तु का हमें ज्ञान नहीं है, उस वस्तु से फायदा उठाने के लिए दूसरे के ज्ञान की मदद जरूरी है, परन्तु ज्ञान की आवश्यकता तो रहती है । दूसरे के ज्ञान की सहायता लेना–इसी का नाम श्रद्धा है ।

यह बात ध्यान में लेने योग्य है कि एक-दूसरे की क्रिया का फायदा एक-दूसरे को नहीं होता है, परन्तु एक-दूसरे के ज्ञान का फायदा एक दूसरे को हो सकता है ।

माता-पिता को दूध का ज्ञान है, अतः उनके ज्ञान से बालक को फायदा होता है । परन्तु माता-पिता के दूध पी लेने से बालक की क्षुधा शान्त नहीं हो पाती है, इसी प्रकार किसी के सर्वज्ञ तीर्थंकर बनने मात्र से हम सर्वज्ञ नहीं बन सकते हैं, परन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान का हम फायदा उठा सकते हैं ।

क्रियात्मक फायदा उठाने के लिए क्रिया तो हमें स्वयं ही करनी पड़ती है । उस क्रिया को करने में स्वयं का अथवा दूसरे का ज्ञान मार्गदर्शक बनता है, इस प्रकार ज्ञान और क्रिया दोनों परस्पर संकलित हैं । इन दोनों में से एक का भी खण्डन नहीं हो सकता है । एक का खण्डन करने पर दूसरे का खण्डन स्वतः हो जाता है ।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिसे श्रद्धा नहीं है, उसे ज्ञान भी सम्भव नहीं है । शाला में विद्याभ्यास प्रारम्भ करते समय बालक को कुछ भी ज्ञान नहीं होता है, वह सब कुछ माता-पिता अथवा शिक्षक के कहने से ही सीखता है । शिक्षक के वचनों के प्रति विश्वास रखने से ही वह ज्ञानी बन सकता है । इसी प्रकार बालक, माँ, पिता, काका, मामा आदि शब्दोच्चार भी दूसरे के सिखाए अनुसार ही करता है । परन्तु समझने के बाद बोलता हो, ऐसा नहीं है । यदि पहले श्रद्धापूर्वक बोलने की क्रिया न की होती तो उसे ज्ञान कहाँ से होता ? श्रद्धा के बल से ही हम ज्ञानी बनते हैं, परन्तु आश्चर्य है कि व्यक्ति ज्ञानी बनने के बाद श्रद्धा की निन्दा करता है । यह कितनी अज्ञानतापूर्ण चेष्टा है !

श्रद्धा और ज्ञान की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता क्रिया की भी है । क्रिया रहित ज्ञान और श्रद्धा विशेष फायदा नहीं कर सकते हैं ।

ज्ञान प्राप्त करना सरल है अतः ज्ञान तो बहुतों को होता है, परन्तु क्रिया थोड़े ही व्यक्ति कर पाते हैं । बहुत से लोग जानते हैं

व्यसन खराब हैं, परन्तु व्यसन को छोड़ने वाले कितने ? बीड़ी, तम्बाकू, पान, शराब आदि की अनर्थता जानते हुए भी उनका त्याग करने वाले कितने ?

संसार खराब है, मिथ्यात्व भयंकर है, अविरति पाप का मूल है, कषाय संसारवर्धक है इत्यादि जानने की द्रष्टि से तो बहुत लोग जानते हैं, परन्तु उस ज्ञान के अनुरूप आचरण कितनों का ?

करोड़पति किसे कहते हैं ? यह जानने वाले बहुत मिलेंगे, परन्तु करोड़पति कितने ?

करोड़ को समझना अलग वस्तु है और करोड़ प्राप्त करना अलग वस्तु है । करोड़ के ज्ञान मात्र से दारिद्र्य दूर नहीं हो पाता है । इसी प्रकार मिथ्यात्व आदि को जाने, किन्तु उनका त्याग न करे तो क्या फायदा ?

फल का आधार प्रयत्न पर है, प्रयत्न कहो या क्रिया कहो, दोनों एक ही है ।

जीव मात्र आदत से मजबूर है । अनादि के कुसंस्कारों के कारण आत्मा वस्तु को खराब समझने पर भी वस्तु का त्याग नहीं कर पाती है । हिंसा, माया, कपट आदि अठारह पापस्थानकादि पापों को खराब मानने पर भी उनका त्याग करने वाले कितने ? मोह के जोर के कारण सत्य को जानने / समझने पर भी असत्य का त्याग करने वाले थोड़े ही निकलते हैं । इसी कारण पंच परमेष्ठी में सिर्फ ज्ञानी का संग्रह नहीं किया है, किन्तु ज्ञान को आचरण में रखने वालों को ही स्थान दिया है । आचरण रहित अवधिज्ञान के धारक (देवादि) का भी पंच परमेष्ठी में स्थान नहीं है ।

प्रश्न 35 :– सर्वज्ञ-वचन में शंका करना क्या अपराध है ?

उत्तर :– हाँ ! सर्वज्ञ-वचन में शंका करना भी गुनाह है । दुनिया के किसी सुप्रसिद्ध नीतिमान् व्यक्ति के सन्दर्भ में गलत वात कहना भी कानूनन अपराध है, तो फिर सर्वज्ञ भगवन्त जैसे परम ज्ञानी परमात्मा के वचन में शंका धारण करना, उन्हें गलत कहना क्या अपराध नहीं

है ? जरूर अपराध है, क्योंकि उसमें एक परम पुरुष वीतराग और दोष रहित ऐसे सर्वश्रेष्ठ गुणों वाले महापुरुष के सत्यवादीरूप गुण के प्रति तिरस्कार है । गुणी के गुण की अवगणना, यही सबसे बड़ा अपराध है ।

स्वयं सत्यवादी न बनना, यहजिस प्रकार गुनाह है उसी प्रकार जो सत्यवादी है उनके प्रति असद्भाव धारण करना यह भी सबसे बड़ा गुनाह है और असद्भाव को धारण कर तदनुसार प्रवृत्ति करना, यह उससे भी बड़ा गुनाह है ।

असत्यवादी सत्यवादी बन सकता है, परन्तु सत्यवादी के प्रति असद्भाव धारण करने वाला कभी भी सत्यवादी नहीं बन सकता है । जो व्यक्ति अपने थोड़े से भी गुण का अभिमान करता हो और दूसरे के गुणों के प्रति द्वेष भाव धारण करता हो तो क्या वह व्यक्ति गुण द्वेषी नहीं है ? अथवा अभिमान के शिखर पर चढ़ा हुआ नही है ? इस गर्व के परिणाम से आत्मा का परिभ्रमण बढ़ जाता है, अतः सर्वज्ञ-वचन में शंका रखना अनुचित ही है ।

प्रश्न 36 :– एक शरीर में अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर :– इस बातको समझने के पूर्व यह समझना जरूरी है कि जगत् में अनन्त जीव किस प्रकार है ?

प्रत्येक आस्तिक दर्शनकार मानता है कि **'यह जगत् अनादि है ।'** जो जगत की आदि मानते हैं, वे भी ब्रह्म को तो अनादि ही मानते हैं । उनकी मान्यता है कि अनादि ब्रह्म अथवा ईश्वर इस जगत् का नाश करता है और पुनः जगत् का निर्माण करता है । ईश्वर के अस्तित्व को मान्य रखने के लिए वे ब्रह्मवादी सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं, फिर भी उस उत्पत्ति और विनाश की क्रिया को तो उन्हें भी अनादि ही माननी पड़ती है । सृष्टि की उत्पत्ति, नाश और जीवात्मा के अस्तित्व को किसी भी प्रकार से आस्तिक दर्शनकारों को अनादि ही मानना पड़ता है ।

जगत् के अनादि अस्तित्व का स्वीकार करने पर प्रश्न खड़ा होता है कि अनादि जगत् में किसी को मोक्ष होता है या नहीं ?

आस्तिक मात्र मोक्ष का स्वीकार करता है, अतः अनादि जगत् में मोक्षगत आत्माओं की संख्या भी अनन्त होनी चाहिये । प्रत्येक सृष्टि में एक-एक आत्मा भी मोक्ष में जाय तो भी अनादि अनन्त काल में मोक्षगत जीव अनन्त मानने पड़ेंगे । भूतकाल में अनन्त जीव मोक्ष में गए और भविष्य में भी अनन्त जायेंगे ।

नवीन जीवों की उत्पत्ति का स्वीकार किसी ने नहीं किया है । मनुष्यभव और मानवदेह के बिना किसी का भी मोक्ष नहीं हुआ है । यह बात सभी दर्शनकार स्वीकार करते हैं । इससे यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि यह जगत् अनन्त जीवों का निवास स्थान है । मोक्षगत भी अनन्त हैं और संसार में रहे हुए भी अनन्त है ।

मानव देह के बिना मोक्ष नहीं है अतः जब तक मानव है तब तक उसे (देह को) टिकाने के लिए पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति का अस्तित्व भी अनिवार्य है । इनमें से एक के भी अभाव में मनुष्य जीवित नहीं रह सकता है, अतः जिस प्रकार मोक्षगत अनन्त हैं उसी प्रकार संसार में रहे हुए भी अनन्त सिद्ध होते हैं ।

शास्त्रकार कहते हैं कि उन सब जीवों को रहने के लिए चौदह राजलोक के सिवाय दूसरा कोई स्थान नहीं है । शरीर की जघन्यतम अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । शास्त्र के कथनानुसार जगत् में जीवों के शरीर असंख्यात ही हैं–अनन्त नहीं । अतः प्रश्न खड़ा होता है कि वे अनन्त जीव कहाँ रहेंगे ?

कहना ही पड़ेगा–असंख्य शरीरों में ही रहेंगे । संसार में रहे हुए अनन्त जीवों को असंख्यात शरीरों में ही रहना पड़ता है । इससे सिद्ध होता है कि एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं । यदि एक शरीर में (साधारण वनस्पतिकाय आदि) अनन्त जीव न मानें तो संसार का अस्तित्व ही टिक नहीं सकेगा । अनन्त जीवों को धारण करने वाला शरीर फक्त वनस्पतिकाय का ही है, जो युक्ति से भी सिद्ध है ।

अनन्तकाय वनस्पति की एक विशेषता है–**'छिन्नरुहा'** । छेदने के बाद भी जो पुनः उगती हो, उसे **'छिन्नरुहा'** कहते हैं ।

अनन्तकाय को छोड़कर ऐसी कोई वनस्पति नहीं है । जो छेद देने के बाद पृथ्वी, पानी के आश्रय बिना पुनः उगती हो । **'कुआँर के पाठे'** को जमीन में से निकाल कर छज्जे पर ऐसे ही रख दिया जाय तो भी वह पृथ्वी, पानी की मदद बिना ही बढ़ने लगता है ।

आलू के अनेक टुकड़े कर उन प्रत्येक को पृथ्वी में बोया जाय तो वे सब उग जाएंगे । अन्य (प्रत्येक) वनस्पतियों में यह सम्भव नहीं है । साधारण वनस्पति में यही सबसे बड़ा अन्तर है और यह भेद यही है कि साधारण वनस्पतिकाय के एक देह / शरीर में अनन्त जीव रहे हुए हैं । जीवों की सबसे बड़ी संख्या के कारण ही कन्दमूल का छेदन करने के बाद भी, उन्हें बोने पर वे पुनः उग जाते हैं ।

प्रश्न 37 :– हृदय कबूल करे वह धर्म और हृदय कबूल न करे वह अधर्म, क्या यह व्याख्या बराबर है ?

उत्तर :– मूर्ख आत्माओं को छोड़ कर इस प्रकार की व्याख्याओं को कोई भी व्यक्ति स्वीकार नहीं करता है । ज्ञानी का हृदय ही प्रमाण है, अज्ञानी का नहीं ।

अज्ञानी व दुराचारी के दिल में जितने भी विचार आएँ क्या उन सबको कोई बुद्धिमान् पुरुष सत्य रूप में स्वीकार करेगा ? जो व्यक्ति प्रामाणिक नहीं है, उस व्यक्ति का विचार और वचन भी प्रामाणिक नहीं है और जो पुरुष प्रामाणिक है उसका विचार और वचन भी प्रमाणभूत है, यह न्याय सभी ज्ञानी पुरुषों ने स्वीकारा है और हमें भी मान्य रखना चाहिये । ज्ञानी के दिल में संवेग प्रधान अत्यन्त शुभ परिणाम होते हैं । संवेग और संवेगजन्य पापनिवृत्ति जो ज्ञानी को होती है वह अज्ञानी को सम्भव नहीं है, इसीलिए ज्ञान परलोक-साधक है ।

प्रश्न 38 :– सम्यक्त्व-प्राप्ति का क्रम और उसका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :– नदी-गोल पाषाण न्याय से संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का क्षय करते

हुए जब उन्हें अन्तःकोटाकोटि सागरोपम की स्थिति में ला देती है तब उस स्थिति को ग्रंथिदेश अथवा यथा प्रवृत्तिकरण कहते हैं ।

'यथाप्रवृत्तिकरण' करनेवाली प्रत्येक आत्मा सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करती ही है, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

ग्रंथिदेश की स्थिति पाने के बाद भी आत्मा पुनः मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बंध कर सकती है ।

इस भव-चक्र में ग्रंथिदेश की अवस्था तो आत्मा अनन्त बार भी पा सकती है । परन्तु जब आत्मा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की पूर्ण योग्यता प्राप्त कर लेती है तब वह आत्मा जो यथाप्रवृत्तिकरण करती है, उसे चरम यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं इस यथा प्रवृत्ति के बाद वह आत्मा **'अपूर्वकरण'** करती है और इस अपूर्वकरण के द्वारा आत्मा दुर्भेद्य ऐसी राग-द्वेष की ग्रंथि का भेदन करती है ।

अपूर्वकरण करने वाली आत्मा अवश्य ही सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करती है ।

राग-द्वेष की ग्रंथि के भेद से आत्मा में जो परिणाम पैदा होता है, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं । इस अनिवृत्तिकरण के द्वारा आत्मा तीन काम करती है–(1) उस अन्तर्मुहूर्त में स्वतः उदय में आने वाले मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों को खपा कर नष्ट करती है । (2) बाद के अन्तर्मुहूर्त में उदय में आने वाले मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों की स्थिति घटाकर (जिनकी स्थिति घटना शक्य हो) उन्हें उदय में लाकर खपाती है और (3) बाद के अन्तर्मुहूर्त में उदय में आने वाले उन दलिकों को, जिनकी स्थिति का घात शक्य न हो, उनकी स्थिति बढ़ा दी जाती है ।

इस प्रकार आत्मा मिथ्यात्वमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय के दलिकों का जिसमें प्रदेशोदय भी न हो, ऐसी तैयारी अनिवृत्तिकरण में कर ली जाती है...और उसके बाद आत्मा मिथ्यात्वमोहनीय और अनन्तानुबन्धी के दलिकों से रहित अन्तर्मुहूर्त को प्राप्त करती है । उस अन्तर्मुहूर्त की प्राप्ति का काल ही औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का काल है ।

कार्मग्रंथिक अभिप्रायानुसार अनादि मिथ्याद्रष्टि जीव सर्व प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व ही पाता है, जबकि सिद्धान्त के मतानुसार अनादि मिथ्याद्रष्टि जीव औपशमिक और क्षायोप-शमिक कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है ।

जिस समय आत्मा को सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति होती है, उस समय रोगी को योग्य औषध की प्राप्ति की अपेक्षा अनन्तगुणा तात्त्विक आनन्द का अनुभव होता है ।

कोई यहाँ प्रश्न कर सकता है कि जिस प्रकार निर्गुणपने में आत्मा दीर्घ कर्मस्थिति का क्षय कर देती है तो अवशिष्ट कर्मस्थिति का क्षय क्यों नहीं करती है ?

इसका जवाब है कि हमेशा पूर्वसेवा मृदु अर्थात् कोमल होती है, परन्तु उत्तरसेवा ही कठिन होती है ।

एक विद्या साधक को विद्यासिद्धि के किनारे आने पर जितनी तकलीफें होती है, उतनी पूर्व में नहीं होती हैं । अतः शेष कर्मस्थिति का क्षय करने के लिए सम्यक्त्व आदि तीव्र गुणों की अत्यन्त आवश्यकता रहती है ।

सम्यक्त्व प्राप्ति के साथ जीवात्मा के परिणाम अत्यन्त शुभ हो जाते हैं ।

कर्मविपाक को जानने के कारण वह आत्मा स्वतः शान्त हो जाती है, अपराधी पर भी आक्रोश नहीं करती है । उसे एक मात्र मोक्ष को छोड़कर सांसारिक पदार्थों की लेश भी इच्छा नहीं होती है ।

अत्यन्त निर्वेदपूर्वक ही वह संसार में रहती है । **'सर्वविरति के पंथ को स्वीकार न सके'** तो उसके लिए उसके दिल में डंख रहता है ।

दुःखी जीवों के प्रति उसके दिल में अनुकम्पा रहती है और वह जिनवचन को सत्य और निःशंक रूप से स्वीकार करती है ।

इस प्रकार के शुभ परिणाम वाली सम्यग्दृष्टि आत्मा अल्पकाल में ही भवसागर का पार पा लेती है ।

प्रश्न 39 :– सम्यक्त्व की प्राप्ति और उसके रक्षण के स्थान कौन से हैं ?

उत्तर :– जिस प्रकार धन की प्राप्ति का स्थान बाजार है और उसके रक्षण का साधन तिजोरी है, उसी प्रकार श्रद्धा की प्राप्ति के स्थान श्री जिनमन्दिर, उपाश्रय, साधु और सत्समागम आदि है और उसके रक्षण के स्थान नित्य आवश्यक क्रियाएँ आदि हैं। नित्य आवश्यक आदि क्रियाओं के आचरण बिना श्रद्धा-धन का रक्षण होना कठिन है ।

प्रश्न 40 :– शुद्ध सम्यक्त्ववान् की निशानी क्या ?

उत्तर :– सुदेव, सुगुरु और सुधर्म को मोक्ष के ध्येय से न माने, वहाँ शुद्ध सम्यक्त्व नहीं हो सकता ।

अनादिकाल से जन्म-जन्मान्तर से निष्फल प्रयत्न कर रही आत्मा, सुदेवादि के आलम्बन से, एक ही जन्म के प्रयत्न से, सर्वकाल स्थिर रह सके, ऐसे फल को प्राप्त कर सकती है । **'सुदेव आदि के आलम्बन से निष्फल प्रयत्न दूर होते हैं और सफल प्रयत्नों की प्राप्ति होती है ।–'** इस बुद्धि से सुदेवादि को मानने वाली आत्मा सम्यग्दृष्टि है ।

'सुदेव-सुगुरु और सुधर्म संसार-समुद्र से मुझे तारने वाले हैं' इस बुद्धि से उनकी की गई पूजा सम्यक्त्व की सूचक है । परन्तु यह तभी बन सकता है, जब जन्म और कर्म की अनादि परम्परा हमेशा ख्याल में रहे ।

जिस प्रकार व्यापारी खाने-पीने-चलने-फिरने की हर क्रिया में अपनी **'साख'** (Credit) को कभी नहीं भूलता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी आरम्भादि की क्रिया करते हुए भी, जन्म-मरण की परम्परा से छूटने स्वरूप मोक्ष के लक्ष्य को कभी नहीं भूलता है ।

गृहस्थ के लिए **'प्रतिष्ठा' 'इज्जत'** की कीमत है, अतः उसके रक्षण के लिए वह सतत जागरूक रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के लिए **'मोक्ष' 'भव-मुक्ति'** की कीमत है और वह उसके लिए सतत प्रयत्नशील रहता है ।

पनिहारिन पानी के घड़े को अपने मस्तक पर धारण करती हुई चलती है...और बातें भी करती है, परन्तु उसका मन घड़े में केन्द्रित होता है । नव-वधू घर के सभी कार्य करती है...परन्तु उसके दिल में सतत पति का वास होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा के दिल में भी सतत भव-मुक्ति का ध्येय रहता है ।

प्रश्न 41 :– क्या बिना इच्छा की गई क्रियाएँ फलती हैं ?

उत्तर :– जीव निगोद में से बाहर निकल कर अकामनिर्जरा के बल से ऊँचा आता है । अकाम अर्थात् इच्छा रहित ।

इच्छा रहित क्रियाएँ लेश भी न फलती हों तो जीव का विकास कैसे हो ? अतः सिद्ध होता है कि अनिच्छा से की गई क्रियाएँ भी अल्प-अधिक अंश में अवश्य फलदायी होती हैं ।

प्रश्न 42 :– 'मिथ्यादृष्टि का संसर्ग नहीं करना चाहिये' क्या यह संकुचित दृष्टि नहीं है ?

उत्तर :– नहीं । खाया हुआ जहर वमन द्वारा बाहर निकाला जा सकता है, परन्तु कान द्वारा प्रविष्ट मिथ्या विचारों के विष को बाहर निकालना अत्यन्त कठिन है ।

मिथ्यामत द्वारा खराब विचार रूपी विष निरन्तर कान में उंडेला जाय तो सम्यग्दृष्टि आत्मा के दिल में भी जिनमत में शंकादि पैदा होने की सम्भावना रहती है...और व्यक्ति गलत काम करने के लिए तैयार हो जाता है ।

अतः सम्यग्दृष्टि का सर्व प्रथम कर्त्तव्य है कि कुविचार रूप मिथ्याविष को कान द्वारा कभी ग्रहण न करे ।

घर की रक्षा के लिए द्वार पर ताला लगाने में जिस प्रकार संकुचितता नहीं है उसी प्रकार आत्म-गृह की रक्षा के लिए मिथ्या विचारों को प्रवेश न देना, संकुचितता नहीं बल्कि दीर्घदर्शिता ही है ।

प्रश्न 43 :– क्या साधुपने के पालन के लिए साधुवेष की आवश्यकता है ?

उत्तर :– हाँ ! साधुपने के पालन के लिए साधुवेष जरूरी है ।

कई लोग इस प्रकार सोचते हैं कि साधुवेष को धारण करने पर भी यदि महाव्रतों का बराबर पालन करने में न आए और एक संसारी को भी न शोभे, ऐसी क्रियाएँ करने में आए...तो उस साधु वेष को ग्रहण करने से क्या फायदा ?...तथा यदि मनुष्य को संसार के प्रति सच्चा वैराग्य पैदा हुआ हो तो साधुवेष को धारण किए बिना, घर बैठे ही महाव्रतों का पालन करे तो उसका आत्मकल्याण क्यों नहीं होगा ? मन साफ हो तो दीक्षा बिना भी कल्याण नहीं होगा ? और यदि मन साफ न हो तो दीक्षा लेने से भी क्या फायदा ?

यह विचार स्थूल दृष्टि से सुन्दर और आकर्षक लगता है, परन्तु गहराई से सोचेंगे तो उसमें भयंकर अज्ञानता ही नजर आएगी । मानव-मन पर आस-पास के संयोग और सामग्री का जबरदस्त असर होता है । संयोग और सामग्री से आत्मा भी प्रभावित होती है, कल्याण मार्ग में विघ्न डालने वाली घातक सामग्रियों से दूर रहने में ही सच्चा हित रहा हुआ है । तीर्थंकर और गणधर जैसे समर्थ और शक्तिशाली पुरुषों के लिए भी आत्मश्रेयः के लिए गृहत्याग जरूरी है ।

वेष और रूप में भी चमत्कारिक प्रभाव रहा हुआ है । अनेक बार पतन के किनारे आई हुई आत्माओं को बचाने वाला पवित्र वेष ही है । प्रत्येक वेष के पीछे कुछ-न-कुछ रहस्य रहा हआ होता है । एक कमजोर व्यक्ति भी जब पुलिस-सिपाही के वेष में होता है, तब उसका अपना एक गौरव होता है और उस सिपाही का अपमान भी राजकीय गुनाह गिना जाता है ।

साधुवेष के पीछे भी महान् भावनाएँ रही हुई है । इस वेष को स्वीकार करने वाली आत्मा कर्म सत्ता की अधीनता का त्याग कर धर्म सत्ता की अधीनता स्वीकार करती है । उसका अपमान धर्म सत्ता का अपमान है । साधुवेष के धारक को कर्माधीन होने पर भी कर्म की गुलामी स्वीकार्य नहीं है । **'कर्म की बेड़ियों को तोड़ने के लिए मैं सज्ज बना हूँ, इस प्रकार की भावना साधुवेष के धारक के दिल में पैदा होती है और उसे देखने वाले के दिल में भी यह कल्पना आती है ।'**

आयंबिल

शरीर, इन्द्रिय, विषय, स्वजन-कुटुम्बी आदि कर्म की परतंत्रता को बढ़ाने वाले हैं। यह गुलामी और परतंत्रता मुझे मान्य नहीं है, इस प्रकार की भावना साधुवेष से पैदा होती है।

प्रश्न 44 :– आयंबिल तप से क्या फायदा है ?

उत्तर :– जिस मुनि का भोजन असार है अर्थात् नीरस है, उसका तप कर्म को भेदने में सार अर्थात् वज्रतुल्य है और जिसका भोजन सार अर्थात् रसयुक्त है, उसका तप असार अर्थात् कर्म को भेदने में दुर्बल है।

आयम्बिल के भोजन में सारभूत कहलाने वाले पदार्थों का सर्वथा त्याग है। दूध, दही, घी, गुड़, तेल आदि विगइयों का, मेवा-मिष्टान्न, फल-मिर्च-मसाले और रसवर्धक पदार्थों का आयम्बिल तप में सर्वथा त्याग करने का होता है, इस कारण यह तप कर्मरूपी पर्वत को भेदने के लिए वज्रतुल्य गिना गया है।

प्रश्न 45 :– आरोग्यशास्त्र की दृष्टि से आयम्बिल तप से क्या फायदा है ?

उत्तर :– आरोग्य दो प्रकार का है–द्रव्य आरोग्य और भाव आरोग्य। शरीर का आरोग्य द्रव्य आरोग्य और आत्मा का आरोग्य भाव आरोग्य कहलाता है। आयम्बिल तप के सेवन से दोनों प्रकार का आरोग्य सुधरता है, इसमें लेश भी सन्देह नहीं है।

यहाँ इतना याद रखना जरूरी है कि प्राण का सम्बन्ध अन्न के साथ है किन्तु रस के साथ नहीं। अकेले अन्न से जी सकते हैं किन्तु अकेले रस से नहीं।

दूध, दही, घी, गुड़, तेल आदि में रस भले ही हो किन्तु अनाज के बिना उन रसों का भोजन औदारिक शरीर को टिकाने वाला नहीं है, किन्तु क्षीण करने वाला है। इतना ही नहीं, अधिक प्रमाण में मिर्च-मसाले-चटनी आदि लेने से आँखों के रोग तथा मसे आदि अनेक रोग पैदा हो जाते हैं।

रस आरोग्यपोषक नहीं किन्तु आरोग्यघातक हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए इससे अधिक दृष्टान्त देने की आवश्यकता नहीं है ।

जगत् में इतनी अधिक दवा, इंजेक्शन, औषधियों आदि को शोध के बाद भी रोग क्यों नहीं मिटते हैं ? इसका एक ही उत्तर है कि रोग के मूल कारण रूप रसों का सेवन खड़ा ही है, जब तक उस पर पर्याप्त अंकुश न लग जाय तब तक भावी अशुभ परिणाम से मुक्त नहीं हो सकते ।

आयम्बिल तप में आरोग्यघातक रसों का तो सर्वथा त्याग है परन्तु आरोग्य और बलपोषक धान्य का निषेध नहीं है ।

प्रश्न 46 :– आध्यात्मिक-दृष्टि से आयम्बिल से क्या लाभ है ?

उत्तर :– चंचल मन पर विजय पाने से ही चित्त की शुद्धि हो सकती है । मान पर विजय पाने के लिए इन्द्रियों पर विजय अत्यन्त जरूरी है । इन्द्रियों पर विजय पाने के लिए विषयों पर अंकुश जरूरी है ।

इन्द्रियों के शब्दादि विषय विकारक और अविकारक दो तरह के होते हैं । विकारक विषय इन्द्रियों को बहलाकर चित्त को मलिन करते हैं और अविकारी विषयों से इन्द्रियों का उत्पात होता है और चित्त में सन्तोष और प्रसन्नता फैलती है । इसी कारण अनादिकाल से वासनाओं से बद्ध जीव को विकारक विषयों से बचना अत्यावश्यक है । वह कार्य आयम्बिल के तप द्वारा सरलता से हो जाता है ।

आयम्बिल का आहार सिर्फ रसना को ही नहीं किन्तु सभी इन्द्रियों को वश करने में समर्थ है, क्योंकि अविकारक आहार से बना हुआ खून निर्विकार होने से तूफानी इन्द्रियों की मस्ती दूर होती है और शान्ति पैदा होती है । परिणामस्वरूप मन भी शान्त व शुद्ध बनता जाता है । जड़ का पक्षकार मिटकर चेतन का पक्षकार बनता जाता है ।

प्रतिदिन परिग्रह आदि पापों में डूब रही दुनिया के रोगों का एक कारण विकारक भोग और विकारक आहार ही है ।

विकारक भोगों से बढ़ने वाली जड़ की ममता उत्तरोत्तर परिग्रह को बढ़ाती है और मूर्च्छा के वश बना हुआ जीव पाँचों इन्द्रियों का दुरुपयोग करता हुआ अब्रह्म रूप व्यभिचार का सेवन करने लग जाता है ।

केवल परस्त्री-भोग के अन्याय को ही व्यभिचार नहीं माना जाता

किन्तु कान, आँख, नाक, जीभ और स्पर्श रूप पाँच इन्द्रियों का दुरुपयोग व्यभिचार माना जाता है । इस प्रकार विकारक भोग मानव को पाँच इन्द्रियों के अन्याय रूप व्यभिचार का गुलाम बना देता है । व्यभिचार की सामग्री का असन्तोष बढ़ने पर चोरी, लूट जैसे पाप जीवन में बढ़ते हैं । व्यक्ति जीवन में असत्य बोलता है और मात्र क्षुद्र जन्तुओं का ही नहीं, मानव का भी खून कर देता है ।

आज देश-विदेश में हो रहे उत्पात और बढ़ती जा रही और हिंसा इसी के उदाहरण रूप हैं ।

इस प्रकार विकारक आहार जीव को हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह के घोर पापों में धकेल कर जगत् में अशान्ति का दावानल सुलगा देते हैं । उसमें से बचने के लिए वीतराग परमात्मा ने निर्विकारक आहार का उपदेश दिया है । जिसके परिणामस्वरूप आत्मा विषयों से विरागी बनकर सन्तोषी, सदाचारी, ब्रह्मचारी, शीलवान्, नीतिमान्, सत्यवादी और अहिंसक बनता है और परम्परा से कर्ममल से मुक्त होकर अजरामर पद प्राप्त करती है । इससे स्पष्ट है कि आत्मा के परम सुख का मूल निर्विकार आहार है ।

प्रश्न 47 :– आयम्बिल का तप मुनि-जीवन में भले ही लाभकारी हो किन्तु क्या गृहस्थ जीवन में अधिक प्रमाण में आयम्बिल का तप हानिकारक नहीं है ?

उत्तर :– बिल्कुल नहीं । त्यागी मुनि के लिए आयम्बिल का तप जितना हितकारी है, उससे भी अधिक लाभकारी गृहस्थों के लिए है, क्योंकि गृहस्थ को तो अधिक समय तक असत् संगति में रहने का होता है अतः उस खराब असर से बचने के लिए बलवान साधन की आवश्यकता है, आयम्बिल का तप भी उसमें एक प्रबल साधन है जो गृहस्थों को खराब संसर्ग से होने वाले पतन से बचाता है ।

प्रश्न 48 :– आयम्बिल तप में दूध, घी आदि विगइयों के त्याग के साथ वनस्पति का भी सर्वथा त्याग होता है तो क्या वनस्पति के बिना शरीर टिक सकता है ?

उत्तर :– खुराक में वनस्पति के गुणों का वर्णन जो आजकल सुनाई देता है उसमें अत्यधिक प्रमाण में अतिशयोक्ति ही है । सिर्फ वनस्पति के आधार पर तो पशु ही जी सकते हैं । अन्न तो वनस्पति का अर्क है, उसे छोड़कर वनस्पति की ओर मानव जाति को ले जाना, यह मनुष्य को मनुष्य मिटाकर जानवर बनाने की कोशिश है ।

वनस्पति का अधिक प्रमाण में उपयोग करने से अनेक लोग रोगों के भोग बने हैं, यदि वे खुराक में से वनस्पति का सर्वथा बहिष्कार कर दें तो सम्भव है वे अनेक रोगों से बच सकें ।

आयम्बिल का भोजन रोगहर है, उसका एक कारण है कि उसमें वनस्पति का सर्वथा त्याग है । यह बात अनुभवसिद्ध है ।

प्रश्न 49 :– क्या आयम्बिल करने से ज्ञानतन्तु कमजोर होते हैं ?

उत्तर :– ज्ञानतन्तु कमजोर पड़ने का मुख्य कारण आयम्बिल नहीं किन्तु अधिक प्रमाण में चिन्ता करने की खराब आदत है । आयम्बिल तो समर्थ धर्मानुष्ठान है और उसका सेवन आत्मा की सद्गति का कारण है । ऐसा दृढ़ विश्वास जिन्हें हो उन्हें निरर्थक चिन्ता करने की आवश्यकता भी नहीं होती है ।

प्रश्न 50 :– अन्य तपों की अपेक्षा वर्धमान तप में क्या विशेषता हैं ? यह तप किसने किया है ?

उत्तर :– 1. पांडवों ने पूर्व भव में यह तप किया था ।

2. श्रेणिक राजा की अनेक रानियों ने यह तप किया था ।

3. तत्त्वार्थ भाष्य में इस तप को रत्नावलि कनकावलि आदि की तरह बडे प्रकीर्णक तप में गिना है ।

4. भरत चक्रवर्ती की बहन सुंदरी ने 60000 वर्ष तक यह तप किया था ।

5. जंबूस्वामी ने पूर्व भव बारह वर्ष तक छट्ठ के पारणे आयंबिल द्वारा यह तप किया था ।

6. अन्य तप जल्दी पूर्ण हो जाते है, यह तप लंबा चलता है ।

7. दूसरे तप की पूर्णाहूति में पारणा होना हैं, जबकि इस तप के पारणे में दुगुना तप उपवास आता है ।

8. दूसरे तप अनशन स्वरुप है, जब कि यह तप रस त्याग स्वरुप है । सभी इन्द्रियों में रसना बलवान हैं, उस पर विजय इस तप में है ।

9. विगइयों के त्याग रुप आयंबिल तप का दूसरा भी प्रभाव है कि श्रीपाल आदि का कोढ रोग इसी तप से नष्ट हुआ था, ऐसे अनेक दृष्टांत प्रसिद्ध है ।

10. विघ्नजय हेतु यह तप सर्वश्रेष्ठ है ।

11. चित्त की चंचलता में मुख्य भाग विगइयों से होने वाली सहज विकृति है, उस पर विराम विगइयों के त्याग बिना शक्य नहीं है ।

12. भोजन करने पर भी आत्मा के सहज सुख का अनुभव आयंबिल में होता है ।

13. ब्रह्मचर्य निर्मल बनता है, संतोष वृत्ति बढती है तथा विकार नष्ट होते है ।

प्रश्न 51 :– गर्म पानी (उबाला हुआ) पीने से आंखों में गर्मी बढती हैं ?

उत्तर :– नहीं, । उबाला हुआ पानी तो समग्र आरोग्य के लिए फायदेकारक है । यह बात आज के विज्ञान ने भी सिद्ध की है ।

पानी से होने वाले रोगों के लिए तो यह अमूल्य औषध है ।

आयंबिल न करे तो भी गर्म पानी पीने का अभ्यास द्रव्य-भाव उभय हितकर है ।

प्रश्न 52 :– आयंबिल बाह्यतप हैं अभ्यंतर तप की वृद्धि के लिए उसे गौणकर सकते है ?

उत्तर :– जिसे प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च आदि अभ्यंतर तप इष्ट है उसे तो आयंबिल तप के प्रति विशेष आकर्षण पैदा होता है ।

आयंबिल के दिनो में सभी प्रकार का अभ्यंतर तप जिस रस पूर्वक हो सकता है, उतना अन्य दिनों में संभव नहीं है । यह अनुभव सिद्ध बात है । उपवास आदि बाह्यतप, अभ्यंतर तप में अवश्य सहायक हैं, परंतु वह तप लंबे समय तक नहीं हो सकता है, जबकि प्रबल पुरुषार्थ करे तो आयंबिल तप जीवन पर्यंत भी कर सकते हैं और उन दिनों में भी अभ्यंतर तप की आराधना में वृद्धि कर सकते है ।

5 स्याद्वाद

प्रश्न 53 :– स्याद्वाद का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :– एक ही वस्तु का, अन्य-अन्य दृष्टि-बिन्दुओं से अवलोकन करना अथवा कथन करना, उसे स्याद्वाद कहते हैं ।

एक ही वस्तु में अन्य-अन्य अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न धर्मों का स्वीकार करना, यही स्याद्वाद का रहस्यार्थ है । स्याद्वाद को अनेकान्तवाद भी कहते हैं । एक ही वस्तु में नित्यत्व, अनित्यत्व, सत्त्व, असत्त्व आदि विरुद्ध दिखाई देनेवाले धर्मों का, अपेक्षा दृष्टि से स्वीकार करना, यही स्याद्वाद-दर्शन अथवा अनेकान्तवाद का फल है ।

प्रत्येक वस्तु अपने-अपने गुण धर्मों की दृष्टि से `सत्' होती है, परन्तु अन्य वस्तु के गुणधर्मों की अपेक्षा से सत् नहीं हो सकती । अपने रूप रस, आकार आदि की अपेक्षा से आम्र सत् है परन्तु नीम के रूप, रस आदि की अपेक्षा से वही आम सत् नहीं । जिस प्रकार आम्र स्वरूप, रसादि की अपेक्षा से सत् है, उसी प्रकार अन्य के रूप, रस आदि की अपेक्षा से असत् भी है ।

कोई व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता कहलाता है और अन्य के पुत्रों की अपेक्षा से वह पिता नहीं कहलाता है ।

स्व पुत्र की अपेक्षा से जो पिता है, वह अन्य के पुत्र की अपेक्षा से अपिता ही है । इसी प्रकार जो वस्तु अपने गुण-धर्मों की अपेक्षा से सत् है, वह वस्तु अन्य पदार्थों के गुण धर्मों की अपेक्षा से स्वतः असत् सिद्ध हो जाती है ।

इसी बात को हम घट के दृष्टान्त से स्पष्ट समझ सकते हैं ।

एक घट अपने स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा से सत् है और पर-द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से असत् है ।

स्व द्रव्य अर्थात् `मिट्टी' की अपेक्षा से घट `सत्' है और पर द्रव्य `जल' आदि की अपेक्षा से घट `असत्' है ।

स्व क्षेत्र `पाटण' की अपेक्षा से घट `सत्' है और पर क्षेत्र `अयोध्या' की अपेक्षा से घट `असत्' है ।

स्व काल `हेमन्त ऋतु' की अपेक्षा से घट `सत्' है और पर काल `वर्षा' ऋतु की अपेक्षा से घट `असत्' है ।

स्व भाव `लालवर्ण' की अपेक्षा से घट `सत' है और परभाव `श्वेतवर्ण' की अपेक्षा से घट `असत्' है । इसी का नाम `स्याद्वाद' है ।

इस प्रकार नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म भी घट में सिद्ध हो सकते हैं । एक ही मिट्टी में से घट बनता है और घट के फूट जाने से टुकड़े-टुकड़े हो जाते है और उन दोनों अवस्थाओं में मिट्टी तो वही होती है । हाँ ! टुकड़े हो जाने के बाद घट का आकार बदल जाता है, फिर उसे कोई घट नहीं कहता है । `घट' यह मिट्टी की ही विशेष आकृति है फिर भी वह आकार मिट्टी से एकान्ततः भिन्न नहीं है ।

घट का आकार और मिट्टी, दोनों घट के ही स्वरूप हैं । उसमें `घट' का आकार विनाशी है और दूसरा स्वरूप जो `मिट्टी' है, वह विनाशी नहीं बल्कि अविनाशी है । इससे यह सिद्ध होता है कि घट का विनाशी रूप, जो आकार विशेष है, उसकी अपेक्षा से `घट' अनित्य है और घट का ध्रुव रूप जो मृत्पिंड, उसकी अपेक्षा से घट नित्य है, इस प्रकार एक ही वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व रूप विरुद्ध धर्म सिद्ध हो सकते हैं ।

दूसरे भी परस्पर विरुद्ध धर्म एक ही वस्तु में किस प्रकार रहे हुए हैं, उसे समझने के लिए घट को ही द्रष्टान्त रूप में ले सकते हैं ।

प्रत्येक वस्तु में समान (सामान्य) और विशेष धर्म रहे हुए होते हैं । हजारों घड़ों में यह घड़ा...यह घड़ा...इस प्रकार समानाकार बुद्धि उत्पन्न होती है, इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक घट में एक सामान्य धर्म (घटत्व) रहा हुआ है । उन अनेक घटों में, प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने घट को पहिचान सकता है, इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक घट में एक विशेष धर्म भी रहा हुआ है, जिसके कारण उनका पृथक्-पृथक् परिचय हो पाता है ।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में समानता और असमानता रूप उभय प्रकार के धर्म रहे हुए हैं । वे दोनों धर्म एक ही वस्तु में दिखाई देते है, इससे यह सिद्ध होता है कि वे धर्म, वस्तु से भिन्न नही हैं । इसी कारण स्याद्वाद दर्शन प्रत्येक वस्तु को सामान्य विशेष उभयात्मक मानता है ।

कुछ लोग स्याद्वाद को संशयवाद कहते हैं–परन्तु यह उचित नहीं है ।

यह सर्प है अथवा डोरी ?' यह संशयात्मक ज्ञान है, क्योंकि उसमें सर्प और डोरी, इन दोनों में से एक का भी निश्चय नहीं है । स्याद्वाद में इस प्रकार की अनिश्चितता नहीं है, परन्तु एक ही पदार्थ में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से रहे हुए भिन्न-भिन्न धर्मों का स्थिर और निश्चित ज्ञान है । जैसे–एक ही पुरुष में अपने पिता की अपेक्षा से पुत्रत्व है और अपने पुत्र की अपेक्षा से पितृत्व है, इस प्रकार का निश्चित ज्ञान है, परन्तु पुत्रत्व और पितृत्व का संशयात्मक ज्ञान नहीं है ।

स्याद्वाद के स्पष्ट बोध के लिए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक रूप वस्तु के तीनों धर्मों का बोध होना चाहिये ।

सुवर्ण के कुण्डल को तोड़कर उसका कड़ा बनाया गया, ऐसी स्थिति में कुण्डल का नाश हुआ और कड़े की उत्पत्ति हुई...परन्तु सुवर्ण तो वैसा ही रहा । कड़े की सर्वथा नवीन उत्पत्ति हुई हो, ऐसा तो नहीं कह सकते हैं । कुण्डल का लेश भी अंश कड़े में नहीं आया हो तो कड़े की नवीन उत्पत्ति मान सकते हैं, परन्तु वैसा तो है नहीं । कुण्डल का ही समस्त स्वर्ण द्रव्य कड़े में आ गया है मात्र कुण्डल का आकार ही बदला है । कुण्डल का नाश, कुण्डल की आकृतिनाश तक मर्यादित है । कड़े की उत्पत्ति-कड़े के आकार निर्माण तक योग्य है, कुण्डल और कड़े का स्वर्ण तो एक ही है । कुण्डलाकार का नाश, कड़े के रूप में उत्पत्ति और सुवर्ण रूप में स्थिति, इस प्रकार उत्पत्ति-विनाश और स्थिति रूप तीनों धर्म एक ही पदार्थ में एक ही समय में सिद्ध होते हैं ।

दूध का रूपान्तर दही में होता है, फिर भी गोरस रूप में तो उसकी स्थिति बनी रहती है । दूध पर्याय का नाश, दही पर्याय की उत्पत्ति और गोरस रूप में स्थिति ।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का मूलभूत द्रव्य सदैव विद्यमान रहता है, परन्तु उसके पर्याय में परिवर्तन दिखाई देता है ।

पूर्व पर्याय का नाश और नवीन पर्याय की उत्पत्ति बारम्बार होने पर भी मूलभूत वस्तु का विनाश नहीं होता है, उस मूल वस्तु को ही

द्रव्य कहते हैं और उसकी परिवर्तनशील अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। इस प्रकार वस्तु मात्र 'द्रव्य-पर्याय' उभयात्मक है, यह बात सिद्ध होती है। इस प्रकार पदार्थ के स्वरूप का स्वीकार करना ही स्याद्वाद है।

शब्द से स्याद्वाद का स्वीकार न करने पर भी अर्थ से तो सभी दर्शनकारों को स्याद्वाद की अप्रतिहत आज्ञा स्वीकार करनी ही पड़ती है।

सांख्यमत वाले सत्त्व, रजस् और तमस् रूप परस्पर विरुद्ध धर्म एक ही प्रकृति में स्वीकार करते हैं।

नैयायिक और वैशेषिक एक ही पृथ्वी को परमाणु रूप से नित्य और घट-पट आदि पर्याय रूप से अनित्य मानते हैं। द्रव्यत्व-पृथ्वीत्व आदि धर्मों को सामान्य रूप से स्वीकार करते हैं और गुण-क्रियादि से तथा जल-अग्नि-वायु आदि से भिन्न होने के कारण विशेष रूप से भी स्वीकार करते हैं।

बौद्ध अनेक वर्ण वाले चित्रज्ञान को एक ही ज्ञान रूप में स्वीकार करते हैं।

मीमांसक प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय–इन तीन आकारवाले ज्ञान को एक ही ज्ञान रूप में स्वीकार करते हैं।

भट्ट और मुरारि वस्तु मात्र को जातिरूप भी स्वीकार करते हैं और व्यक्तिरूप भी।

ब्रह्मवादी एक ही आत्मा को व्यवहार से बद्ध और परमार्थ से अबद्ध मानते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक दर्शनकार को अन्यान्यरूप से स्याद्वादरूप सिद्धान्त को स्वीकार करना ही पडता है।

प्रश्न 54 :– सप्तभंगी का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :– वस्तु के प्रत्येक धर्म से सम्बन्धित स्याद्वाद की विवेचना को सप्तभंगी कहते हैं। सात वचन/प्रकारों के समूह का नाम ही सप्तभंगी है।

शब्द या वाक्य का कार्य अर्थबोध कराना है। वस्तु के सर्व प्रकार के ज्ञान को 'प्रमाण' कहते हैं और उसे बताने / समझाने वाले वाक्य को 'प्रमाण वाक्य' कहते हैं।

वस्तु के अमुक अंश के ज्ञान को `नय' और उसको बताने वाले वाक्य को `नय वाक्य' कहते हैं । इन नय वाक्य और प्रमाण वाक्यों को सात भागों में बाँटना-इसी का नाम सप्तभंगी है ।

वस्तु के प्रत्येक धर्म की विवेचना सात प्रकारों से ही हो सकती है, उससे अधिक अथवा कम वाक्यों से नहीं । घट रूप पदार्थ में एक नित्य-अनित्य धर्म की विचारणा करें, तब उस सम्बन्ध में निम्नानुसार व्यवहार हो सकता है–

(1) घट : स्यादनित्य एव ।

(2) घट : स्यान्नित्य एव ।

(3) घट : स्यादनित्यः स्यान्नित्य एव ।

(4) घट : स्यादवक्तव्य एव ।

(5) घट : स्यादनित्य एव स्यादवक्तव्य एव ।

(6) घट : स्यान्नित्य एव स्यादवक्तव्य एव ।

(7) घट : स्यादनित्य एव स्यान्नित्य एव स्यादवक्तव्य एव ।

प्रत्येक वस्तु में अस्तित्व आदि अनन्त धर्म रहे हुए हैं । इन धर्मों का कालादि की अपेक्षा से भेद माना जाय तब एक शब्द से अनेक धर्मों का बोध नहीं हो सकता है । अतः प्रत्येक धर्म क्रमशः और अनेक शब्दों द्वारा कहना पड़ता है, उसी का नाम क्रमकथन है, परन्तु जब कालादि से अभेद माना जाय जब एक शब्द द्वारा एक धर्म के प्रतिपादन द्वारा समस्त धर्मों का प्रतिपादन हो जाने से उसे `युगपत्' कथन कहते हैं । क्रम और युगपद् कथन में जो भेद पड़ता है, उसका कारण धर्मों की भेदाभेद विवक्षा है ।

विवक्षाभेद से एक कथन को क्रम कहते हैं और दूसरे को योगपद्य कहते हैं । काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द से कालादि आठ पदार्थ हैं । इन आठों के साथ धर्मों की भेदाभेद वृत्ति स्याद्वाद नीति से घटा सकते हैं ।

प्रश्न 55 :– प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर :– `प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु तत्त्व के यथार्थ निर्णय हो उसे प्रमाण कहते हैं ।

यथार्थज्ञान से सन्देह, भ्रम और अज्ञान दूर होता है और वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है–इसलिए यथार्थज्ञान प्रमाण कहलाता है ।

सन्निकर्ष आदि जड़ वस्तुएँ प्रमाण नहीं बन सकती, परन्तु स्व-पर प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है ।

जैनदर्शन द्वारा स्वीकृत प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार है–

स्पष्ट प्रतिभासी ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । इसके दो भेद हैं – (1) सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और (2) पारमार्थिक प्रत्यक्ष ।

सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद है–(1) इन्द्रिय निबन्धन और (2) अनिन्द्रिय निबन्धन ।

इन्द्रिय द्वारा जो बोध हो उसे इन्द्रियनिबन्धन और मन द्वारा जो बोध हो उसे अनिन्द्रिय निबन्धन कहते हैं ।

इन दोनों के चार-चार हैं । अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा ।

अर्थ के सामान्य ग्रहण को अवग्रह कहते हैं । उसके बाद पदार्थ के परामर्श को ईहा कहते हैं । उसके बाद वस्तु के अवधारण को अपाय कहते हैं और अवधारण की अविच्युति वासना और स्मरणरूप अवस्था को धारणा कहते हैं ।

इन्द्रिय और मन द्वारा होने वाले ज्ञान को, अनुमानादि की तरह (आत्मा सिवाय इन्द्रियादि) अन्य निमित्तों से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं कह सकते हैं, फिर भी व्यवहार में वह ज्ञान (रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, सुख, दुःख आदि का साक्षात्कार) यथार्थ प्रवृत्ति-निवृत्ति में मुख्य कारण होने से प्रत्यक्ष कहलाता है ।

जिसमें इन्द्रिय आदि अन्य सहायकों की अपेक्षा नहीं रहती है और जो केवल आत्मशक्ति, द्वारा उत्पन्न होता है, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं ।' उसके दो भेद हैं–(1) सकल और (2) विकल । केवलज्ञान सकलपारमार्थिक ज्ञान है । विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं–(1) अवधि और मनःपर्यव ।

ज्ञानावरणीय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और उस ज्ञान द्वारा रूपी द्रव्यों का बोध होता है, अरूपी का नहीं ।

अवधिज्ञान के दो भेद हैं–(1) भव प्रत्ययिक और (2) गुण प्रत्ययिक ।

देव और नारक जीवों को भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान होता है और गुण प्रत्ययिक अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचों को होता है ।

ज्ञानावरणीय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है और उस ज्ञान द्वारा मनुष्यक्षेत्र (ढाई द्वीप) में रहे हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जाना जाता है ।

जैनदर्शन द्वारा मान्य परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं–स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ।

अमुक वस्तु का अनुभव करने से उसके संस्कार हृदय में स्थिर बनते हैं और पुनः किसी निमित्त को प्राप्त कर वे संस्कार जागृत होते हैं, उसे स्मरण कहते हैं । अनुभूत वस्तु पर यथार्थ प्रकाश डालने वाला होने से स्मरण भी प्रमाण कहलाता है ।

खोई हुई वस्तु जब पुनः हाथ लगती है तब `यह वही वस्तु है'– इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं ।

स्मरण में मात्र पूर्व अनुभव ही कारण है, जबकि प्रत्यभिज्ञान में अनुभव और स्मरण दोनों की आवश्यकता रहती है ।

`स्मरण में वह घट' इस प्रकार का ज्ञान होता है, जबकि प्रत्यभिज्ञान में `यह घट' इस प्रकार प्रतिभाग होता है । इसमें यह स्मरण स्वरूप है और `वह' भाग अनुभव स्वरूप है । साद्रश्यज्ञान, एकत्वज्ञान, तुलनात्मकज्ञान आदि प्रत्यभिज्ञान के ही प्रकार हैं । जिस अध्यवसाय द्वारा किन्हीं भी दो वस्तुओं के साथ में रहने के सम्बन्ध की परीक्षा की जाती है, उसे `तर्क' कहते हैं । उसे `ऊह' भी कहते हैं ।

`अविनाभाव' सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं और उसके ज्ञान को तर्क कहते हैं ।

व्याप्ति अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक अर्थात् साहचर्य नियम ।

जहाँ समान हो वहाँ साध्य का रहना, अन्वय कहलाता है और जहाँ साध्याभाव है, वहाँ साधन का अभाव होना व्यतिरेक कहलाता है । जैसे-जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि अवश्य है और जहाँ अग्नि का अभाव है, वहाँ धूम का भी अभाव होता है । इस प्रकार धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध है ।

किन्हीं भी दो वस्तुओं का अनेक स्थलों में संयोग दिखाई देने मात्र से उनके अविनाभाव सम्बन्ध/व्याप्ति का नियम नहीं कर सकते हैं । व्याप्ति नियम के लिए यह जाँच जरूरी है कि उन दोनों में से किसी एक को अलग किसी जाय तो कौनसी आपत्ति आती है ? आपत्ति सिद्ध हो तो व्याप्ति सिद्ध होती है ।

उन दो वस्तुओं के साहचर्य नियम की परीक्षा के अध्यवसाय को तर्क कहते हैं । यदि धूम अग्नि बिना रह सकता हो तो धूम अग्नि का कार्य नहीं हो सकता और ऐसा हो तो धूम की अपेक्षावाला अग्नि की शोध नहीं करेगा । परन्तु ऐसा नहीं है । अग्नि और धूम की व्याप्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है । जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है और जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव है, वहाँ-वहाँ धूम का भी अभाव है । इस व्याप्ति नियम के बल से ही अनुमान किया जाता है ।

हेतुदर्शन और व्याप्ति से अनुमान होता है । उस अनुमान के दो प्रकार हैं–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान ।

पर-प्रतिबोध बिना अपनी बुद्धि से ही हेतु आदि द्वारा जो अनुमान किया जाता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं और दूसरे को समझाने के लिए जो अनुमान प्रयोग प्रस्तुत किया जाता है उसे परार्थानुमान कहते हैं । प्रत्यक्ष, स्मरण अथवा अनुमानादि कोई भी ज्ञान, जो शब्द द्वारा प्रस्तुत किया जाता है उसे परार्थानुमान कहते हैं । प्रत्यक्ष, स्मरण अथवा अनुमानादि कोई भी ज्ञान, जो शब्द द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, वह परार्थानुमान है ।

अनुमान में साधन या हेतु के जो तीन या पाँच लक्षण माने गए

हैं, वे उचित नहीं हैं । एक अविनाभाव लक्षण को ही साधन का लक्षण मानना पर्याप्त है । जिस हेतु में अविनाभाव लक्षण न हो, वह हेतु सच्चा हेतु नहीं बन सकता और किसी गलत हेतु में अविनाभाव सम्बन्ध घट नहीं सकता ।

बौद्ध मतावलम्बी हेतु के तीन लक्षण मानते हैं–पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षअसत्त्व । नैयायिक इन तीनों के उपरान्त अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व अधिक मानते हैं । परन्तु इस प्रकार मानने से अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आते हैं । जैसे–पक्षधर्मत्व को हेतु का लक्षण मानने से अव्याप्ति दोष आता है । पक्ष का धर्म ही हेतु बन सकता है अर्थात् साध्य जिस स्थल में हो उसी स्थल में हेतु होना चाहिये–ऐसा मानने से जलचन्द्र के ज्ञान से आकाशचन्द्र का जो अनुमान होता है, वह घट नहीं सकेगा, क्योंकि जलचन्द्र का अधिकरण आकाश नहीं है अर्थात् हेतु और साध्य का अधिकरण एक नहीं है, अतः 'हेतु पक्ष का धर्म होना चाहिये'–यह मत टिक नहीं सकता है ।

इसी प्रकार **'स श्यामः तस्याः पुत्रत्वात्'** इस अनुमान में हेतु के तीन या पाँच लक्षण घट सकते हैं, फिर भी अविनाभाव सम्बन्ध नहीं होने के कारण यह अनुमान सत्य सिद्ध नहीं होता है । **'तत्पुत्रत्व'** हेतु पक्षधर्म है, उसके अन्य पुत्र रूप **'सपक्ष'** में भी है, **'अश्याम'** में नहीं होने से विपक्ष व्यावृत्त भी है । अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व तो स्पष्ट ही है ।

यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि हेतु में विपक्ष व्यावृत्ति निश्चित नहीं है, क्योंकि **'श्यामत्व रहित'** उसका पुत्र होए ही नहीं, ऐसा निश्चित नियम नहीं कर सकते हैं...परन्तु उसी का नाम `अविनाभाव' है । इस `अविनाभाव' के अभाव के कारण ही उपर्युक्त हेतु असत्य सिद्ध होता है । **'विपक्ष व्यावृत्ति का निश्चय'**–इसे अनुमान का अंग मानना, इसी का नाम **'अविनाभाव'** है ।

इसी प्रकार **'अविनाभावशाली'** हेतु में **'अबाधितत्व'** लक्षण भी

होता ही है । अविनाभावशाली हेतु कभी भी बाधित नहीं होता है । **'अग्निरनुष्णः द्रव्यत्वात्'**—यह हेतु अविनाभाव के अभाव से दूषित है । असत्प्रतिपक्षत्व लक्षण भी व्यर्थ है ।

अविनाभाव से हेतु निश्चित होने पर उसके सामने प्रतिपक्ष की सम्भावना होती ही नहीं है । यदि हेतु में अविनाभाव का ही अनिश्चय हो तो वह हेतु सद्हेतु बन नहीं सकता है । इससे यह निश्चित होता है कि 'अविनाभाव' दूसरे शब्दों में 'अन्यथानुपपत्ति' यही हेतु का असाधारण लक्षण है ।

शब्द प्रमाण को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत करना उचित नहीं है, क्योंकि अभ्यस्त दशा में शब्द से वस्तु की प्रतीति जल्दी होने से वह 'शब्दज्ञान' अनुमान नहीं कहला सकता । अनभ्यास दशा में वह 'शब्दज्ञान' व्याप्ति ग्रहण के बल से अर्थ प्रतिपादक होने से अनुमान भी है । सुवर्णज्ञान की तरह अभ्यासी व्यक्ति को सुवर्ण देखने के साथ ही अथवा सुवर्ण शब्द सुनने के साथ ही सुवर्ण का बोध होता है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण और शब्दबोध प्रमाण कहते हैं, परन्तु अनभ्यासी को सुवर्ण देखने के साथ **'यह सुवर्ण होना चाहिये, क्योंकि सुवर्ण सम्बन्धी इतनी विशेषताएँ दिखाई देती हैं'**— इस प्रकार की व्याप्ति की अपेक्षा रहती है, अतः उसका वह ज्ञान अनुमान रूप बन जाता है । इसी प्रकार जिस अनभ्यासी को शब्द सुनने के साथ शीघ्र शब्दबोध नहीं होता है, बल्कि व्याप्ति ग्रहण रूप विचार करने के बाद ही शब्दबोध होता है, उस शब्दबोध को भी अनुमान ज्ञान कह सकते हैं ।

अभाव प्रमाण नहीं हो सकता । अर्थापत्ति प्रमाण का समावेश अनुमान में हो जाता है । ऐतिहासिक प्रमाण सत्य हो तो उसका समावेश आगम प्रमाण में और असत्य हो तो वह अप्रमाण ही बन जाता है । सम्भव प्रमाण का समावेश अनुमान प्रमाण में होता है और प्रातिभज्ञानादि प्रमाण अनिन्द्रिय निबन्धन होने से मानस प्रत्यक्षादि में समाविष्ट होते हैं ।

6 वार्तालाप के कतिपय अंश

पूज्यपाद परमतारक गुरुदेव पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म.सा. वर्तमान युग के उच्च कोटि के साधक महापुरुष थे । बहिर्भाव से अलिप्त रहकर आत्म-भाव में लीन रहनेवाले योगी पुरुष थे । बहिरात्मदशा से सर्वथा मुक्त बने ।

पूज्यपादश्री की अंतरंग आराधना, साधना और उनकी आत्म-परिणति कथा थी ? उसकी आंशिक प्रतीति हमें उनके द्वारा आलेखित ग्रंथ रत्नों से...आलेखित हस्तलिखित डायरियों से...साधक आत्माओं पर लिखे गए पत्रों से तथा साधक आत्माओं के साथ हुए वार्तालाप आदि से ख्याल आता है ।

पूज्यपाद तारक गुरुदेव परमात्मा का आलंबन लेकर अरिहंताकार उपयोग में स्थिर रहते थे । अरिहंताकार उपयोग समय उपयोगाकार आत्मा ध्याता बनती है । इस प्रकार वे अरिहंताकार बनी अपनी आत्मा के ध्यान में लीन रहते थे ।

आत्म-स्वरुप में स्थिरता से साधक आत्मा को जिस रस (आनंद) का अनुभव होता हैं, वह मात्र अनुभव गम्य ही है । शब्दों में उसका वर्णन शक्य नहीं है । आत्म चैतन्य के अनुभव समय जिस रस का वेदन होता हैं, वह रस जगत् में सर्वोत्कृष्ट अमृतरस है । उस रस के वेदन समय आनंद के अनुभव की पराकाष्ठा होती है । परम शांति की अनुभूति होती है । सभी विकल्प शांत हो जाते है ।

आत्म-स्वरुप के उपयोग में स्थिर होने के लिए अनेक शुभ-विकल्प व अनेक प्रक्रियाओं में से पसार होना पडता है । शास्त्र व सद्गुरुओं के समागम से उन प्रक्रियाओं का बोध होता है ।

आत्म स्वरुप के वेदन की दिव्य अनुभूति पूज्यपाद तारक गुरुदेव श्री करते रहते थे ।

उस आनंद की अभिव्यक्ति उनके मुखारविंद से निकले वचनामृतों द्वारा होती थी ।

प्रश्न 56 :– आनंद की अनुभूति कैसे हो सकती है ?

उत्तर :– 'आनंद की अनुभूति के लिए' **'ओम् अर्हं प्रसीद भगवन् मयि ।'** की माला गिननी चाहिये । इस सूत्र द्वारा भगवान के सन्मुख बना जाता है, जिससे भगवान् की कृपा प्राप्त होने पर आनंद विभोर बन सकते है । उसके बाद भगवान में तन्मय बनने से...तद्रुप होने से आनंद का अनुभव कर सकते है । हृदस्थ परमात्मा अंदर से प्रसन्न होने से, उनकी प्रसन्नता मिलने से साढे तीन करोड रोमराजी विकस्वरित हो जाती हैं और आत्मा के असंख्य आत्म प्रदेश आनंदित हो जाते है ।

शूद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध निर्मल कैवल्य स्वरुप परमानंदमय आत्मा ही परमात्मा है ।

देह, मन, वचन, पुद्गल, सुख, दुःख, राग-द्वेष आदि से भिन्न परमानंद के कंद स्वरुप शुद्ध चैतन्य सदा प्रसन्न है ।

वर्तमान में अपना पर्याय जब अंदर रही आत्म शक्ति के सन्मुख बनता है, तब वर्तमान पर्याय परमानंद से भर जाता है ।

दाता-आत्म द्रव्य, जिनो दाता, लेनेवाला-आत्मा का ही पर्याय-जिनो भोक्ता, देय पदार्थ-आत्म गुण ज्ञान आनंद आदि ।

सच्चा साधक सिद्ध शिला पर रहे भगवान को अपार प्रेम और भक्ति द्वारा हृदय-मंदिर में लाकर, आत्म भाव से जिनवर बनकर परम सुख का अनुभव कर कृतकृत्य होता है ।

'शुद्ध द्रव्य गुण पर्याय ध्याने, शिव दीये प्रभु सपराणे ।'

अन्तर्मुख होकर स्वभाव का आश्रय करना, वह शुद्ध उपयोग है । यही मुक्ति का मार्ग है । मोह क्षय का उपाय है । शुद्ध द्रव्य गुण पर्याय का निर्णय कर शुद्ध द्रव्य, गुण, पर्याय युक्त अरिहंत-सिद्ध पद का ध्यान कर, उसके समान अपनी आत्मा के शुद्ध द्रव्य, गुण, पर्याय का निर्णय कर उसमें एकाग्र होना यही मुक्ति का मार्ग है ।

प्रश्न 57 :– प्रभु के नाम स्मरण से क्या फायदा है ?

उत्तर :– ``नाम का संबंध द्रव्य के साथ है और द्रव्य का संबंध गुण-पर्याय के साथ है । नाम द्वारा प्रभु का आत्मद्रव्य स्मृति पथ में आता हैं, जो अनंत गुण पर्याय का धाम हैं । निरावरण निष्कलंक और निराबाध है ।''

प्रभु के नाम द्वारा सर्व प्रथम प्रभु के द्रव्य, गुण और पर्याय के सदृश निज आत्मा के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान होता है । अंत में वह ज्ञान-ध्यान एकत्व में परिणत होता है, तब आत्मा का परमात्म स्वरुप में अनुभव होता है ।

• पर्याय बदलते रहते है, इस विचार से ममत्व बुद्धि का नाश होता है ।

• द्रव्य स्थिर है, इस विचार से `अहं' कर्तृत्व बुद्धि का अहंकार नष्ट होता है । मैं कर्ता नहीं किंतु अकर्ता हूँ, ज्ञातादृष्टा हूँ, ध्रुव तथा स्थिर हूँ, यह विचार मिथ्या कर्तृत्व बुद्धि का विनाश करता है । आत्मा के शुद्ध पर्यायों में ममत्त्व बुद्धि आने से अशुद्ध पर्याय में ममत्त्व का नाश होता है । अर्थात् `पर्याय दृष्टि' से `ममत्व-भाव' का नाश होता है ।

द्रव्य दृष्टि से `अहं' मिथ्या कर्तृत्व बुद्धि का नाश होता है ।

`अहं-मम' भाव का नाश होने से निर्विकल्प चिन्मात्र बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी का नाम वीतरागता है ।

`जे अहंकार ममकारनुं बंधन, शुद्ध नय ते दहे दहन जेम इंधन ।' (350 गाथा स्तवन)

अर्हं के नमस्कार और ध्यान द्वारा संकुचित अहं का ढोल फूट जाता है ।

अर्हं के ध्यान से अहं-ममत्व आत्म व्यापी बनते हैं । मैं आत्मा, जहां जहां चैतन्य है । वह सब मेरा है ।

ज्ञाता-दृष्टा भाव से भी अंत में आत्म स्वरुप में विश्रांति पाने की है ।

केवलज्ञान मय शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार, अव्याबाध सुख स्वरुप, अनंत-आनंदमय, अचिंत्य शक्तियुक्त सिद्ध परमात्मा की प्रथम धारणा करनी चाहिये ।

उसके बाद अरिहंत पद की तरह ध्येय-सिद्ध परमात्मा के ध्यान में लीन होने से ध्येय स्वरुप बने अपने पर्याय का ध्यान कर ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता द्वारा सिद्ध परमात्मा के रुप में आत्मा का ध्यान करना चाहिये ।

इच्छाओं का सर्वथा त्याग आत्म स्थिति में प्रवेश के लिए राजमार्ग हैं । सिद्धियों की इच्छा करना यह आत्म स्थिति में से नीचे गिरने का मार्ग है ।

जहां इच्छा हैं, वहां कलुषितता मलिनता, अपवित्रता आर्तध्यान है । इस कारण मन को आत्म ध्यान में जोडना, यह मन की शक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपयोग है ।

परमात्मा अर्थात् परम आत्मा, उत्कृष्ट आत्मा का हृदय में चिंतन-स्मरण आदि करना रुपातीत ध्यान है ।

प्रश्न 58 :– अपने आसपास आभा मंडल कैसे तैयार करना चाहिये ?

उत्तर :– ``हृदय मंदिर में बिराजमान परमात्मा का दिव्य प्रकाश तुम्हारे भीतर प्रकाश फैला रहा है । वह प्रकाश तुम्हारे संपूर्ण शरीर में फैलता है । वह प्रकाश तुम्हारे शरीर के चारों ओर दिव्य आभा-मंडल की रचना करता है ।

इस आभा मंडल को जैन परिभाषा में 'लेश्या' कहा जाता है । विज्ञान Games Radio activity कहता है । कई उसे Human era कहते है । आभा मंडल में एक दिव्य शक्ति रही हुई हैं उसे Magnetic Personality भी कहते है ।

परमात्मा का दिव्य प्रकाश अपने भीतर सूर्य की तरह प्रकाशमान है । उस कारण अपने आस पास दिव्य आभा मंडल की रचना होती है ।

जब तुम्हें रक्षणात्मक बल Extra Protection की आवश्यकता रहती हैं, तब उसका विशेष ध्यान करे ।

अपने भीतर चल रहे विचारों का आभा मंडल 24 घंटें अपने साथ रहता है । अपने मन में आत्मा परमात्मा, प्राणी मात्र के कल्याण के विचार चालू होंगें तो अपने आस पास रहे आभा मंडल के कारण अपने पास आनेवाला दुःखी व्यक्ति भी सुख का अनुभव करेगा । धर्मी व्यक्ति में भी धर्म की भावना पैदा होगी । अपने निकट आने वाले के हृदय में परमात्मा के प्रति श्रद्धा व भक्ति का भाव पैदा होगा । अशांत व्यक्ति भी शांत हो जाएगा ।

अतः निरंतर सोचे कि परमात्मा की दिव्य शक्ति मेरे भीतर काम कर रही हैं, मेरे हृदय में प्रतिष्ठित परमात्मा में से गुण व शक्तियों का विस्फोट होने से मैं प्रेम स्वरुप हूँ...आनंद स्वरुप हूँ...शक्ति व सामर्थ्य से परिपूर्ण हूँ-गुण समृद्धि से भरा हुआ हूँ ।''

प्रश्न 59 :– बृहत् शक्रस्तव की क्या महिमा है ?

उत्तर :– प्रसन्न हुए इन्द्र महाराजा ने संस्कृत गद्य में परमात्मा के 273 विशेषणों से युक्त 11 आलावे व 11 चुलिकाएँ सहित **श्री वर्धमान शक्रस्तव** पूज्य श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी म. को प्रदान किया था ।

यह स्तोत्र मंत्र गर्भित व दिव्य अर्थ से परिपूर्ण है । इस स्तोत्र में सर्वोत्कृष्ट विशेषणों द्वारा परमात्मा की स्तवना की गई है । भक्तिभाव पूर्वक इस स्तोत्र की नियमित आराधना करने से आराधक को मुक्ति की प्राप्ति होती है और मुक्ति न मिले तब तक आनुषंगिक अनेक लाभ प्राप्त होते है, जिनका वर्णन 11 चुलिकाओं में किया गया है ।

इस स्तोत्र की विशिष्ट आराधना करने के लिए 11 आलावा पूरा होने के बाद उसके मंत्र **'ह्रीं श्रीं अर्हं नमः'** की 5 माला गिननी चाहिये ।

प्रश्न 60 :– अरिहंत परमात्मा के साथ तदाकार बनने का उपाय क्या है ?

उत्तर :– परमात्मा अनंत शक्ति से पूर्ण है । वे सर्व हितकर सर्व

तेजोमय, सर्व रहस्यमय है । अपना हित करने के लिए सदैव तत्पर है । अपने भीतर रही दुष्ट-वृत्तियों का नाश करने के लिए, अपने भीतर रहे अनादि कालीन मोह संस्कारों का ध्वंस करने के लिए...अपने भीतर रही विषय-कषाय और स्वार्थ की अधम-वृत्तियों का नाश करने के लिए परमात्मा सदैव तत्पर है ।

नाम ग्रहे आवी मले, मन भीतर भगवान ।
मंत्र बले जेम देवता, व्हालो कीधो आह्वान ।।

परमात्मा के स्मरण मात्र से उनमें रही शिव शक्ति का अपने में अवतरण होता है । हम जब प्रभु का स्मरण करते है तब अपने मन में उनका आगमन होता है । अपने आत्म प्रदेशों में उनका आगमन होने से उनकी अचिंत्य शक्ति अपने मिथ्या मोह का नाश करती है ।

'वे अपने मूल स्वरुप को प्रकट कराने में सक्रिय रुप से कार्यशील है' यह स्वीकार और अनुभव, साधना मार्ग में अति उपयोगी है ।

जिस प्रकार सूर्य के अस्तित्व मात्र से अंधकार का नाश और प्रकाश का अनुभव सूर्य की स्वाभाविक शक्ति द्वारा होता है, उसी प्रकार नाम स्मरण रुप मंत्र के आह्वान से पधारे हुए परमात्मा का अस्तित्व, अपने भीतर रहे अज्ञान, मिथ्या मोह आदि अंधकार का नाश करते है और अपने सत्, चित् और आनंद स्वरुप प्रकाश का अनुभव कराते है ।

इसी कारण अपने भीतर परमात्मा के अस्तित्व के अनुभव की कला को आत्मसात् करना जरुरी है । अपने भीतर परमात्मा का दिव्य प्रकाश फैल रहा हैं, ऐसा स्मरण रखना आवश्यक है ।

परमात्मा हृदय में पधारे तब उनके गुण, उपकार व शक्तियों का स्मरण करना चाहिये और उनके साथ के संबंध को दृढ करना चाहिये । उनकी उपस्थिति कल्पवृक्ष से भी अधिक कीमती लगनी चाहिये ।

'अतिशय महिमा अति उपकारता, निर्मल प्रभु गुण राग,
सुरमणि सुरघट सुरतरु तुच्छ ने, जिनरागी महाभाग ।'

अपने महाभाग्य का उदय हुआ है, ऐसा हृदय मंदिर में परमात्मा के दर्शन समय लगना चाहिये ।

सतत अभ्यास, तीव्र झंखना और प्रभु के अनुग्रह से प्रभु की उपस्थिति का अनुभव हो सकेगा ।

अनादि मोह के संस्कारों के कारण अपनी वृत्तियाँ, आत्मा व परमात्मा को छोडकर अन्य पदार्थों में घूमती थी, अब वे वृत्तियाँ अनंत गुण समृद्धि के निधान परमात्मा में विलीन होती है । परमात्मा में आदर-बहुमान बढता हैं-अब परमात्मा को छोडकर अन्य कुछ सोचने का मन नहीं होता हैं । उस समय अपने भीतर रहा मिथ्या मोह का ध्वंस होता है ।

परमात्मा के अचिंत्य प्रभाव से देह आदि में **'मैं पने'** की बुद्धि और अन्य पदार्थों में रही **ममत्वबुद्धि** रुप अज्ञान दशा का नाश होने से सर्व सुखों की खान स्वरुप आत्मज्ञान और आत्म भान होता है । शुद्ध आत्म द्रव्य के ज्ञान, पहिचान और दर्शन के बाद, **'परमात्मा जैसी पूर्णता ही मेरा आत्म-स्वरुप है'** के ज्ञान से विकल्प के जाल टूटने लगते है । आत्म-प्रकाश प्रकट होता जाता है ।

'दर्शन-ज्ञानमय आत्मा को छोडकर एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है । आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन हैं, आत्मा ही चारित्र हैं, आत्मा ही सर्वस्व है ।

पू.उपाध्यायजी म. भी कहते हैं–

'ताहरुं ध्यान ते समकित रुप,
तेहि ज ज्ञान अने तेहिज चारित्र छे जी,
तेहथी जाये हो सघलां रे पाप,
ध्याता ध्येय स्वरुप बने पछे जी'

प्रश्न 61 :– संसार का मूल क्या हैं ?

उत्तर :– संसार का मूल अपने नाम और रूप का मोह है । अपने नाम व रूप का विसर्जन किए बिना कभी मोक्ष होने वाला नहीं है । अपने नाम का विसर्जन करने के लिए प्रभु के नाम का स्मरण है ।

अपने रुप का मोह छोडने के लिए प्रभु के रुप का दर्शन है ।

प्रभु नाम का स्मरण अर्थात् अपने नाम का विस्मरण ।

प्रभु के रुप का दर्शन अर्थात् अपने रुप का विस्मरण ।

प्रश्न 62 :– सच्चा सुख कहाँ हैं ?

उत्तर :– सच्चा सुख और आनंद, माया में नहीं किंतु आत्मा और परमात्मा के मिलन में है ।

माया तो ठगनी भयी, ठगत फिरत संसार ।
जिस ठगने उस ठगनी ठगी, उस ठग को नमस्कार ।।

जिसने माया को भी ठग लिया, उस परमात्मा को नमस्कार हो ।

प्रश्न 63 :– नवकार का रहस्य क्या हैं ?

उत्तर :– नमन अर्थात् परिणमन ।

परिणमन अर्थात् तत्स्वरुप बनना । तदाकार उपयोग में परिणत होना । तन्मय होना । तत्स्वरुप बनना अर्थात् उस रुप में होने का अनुभव करना ।

इस प्रकार परमेष्ठियों के ध्यान में तदाकार उपयोग में परिणत होकर स्थिर बनने से ही नवकार के सच्चे अर्थ का अनुभव होता है । उस समय `नवकार का चौदह पूर्व का सार और द्वादशांगी का नवनीत कहा है' उसका परमार्थ ख्याल में आता है ।

अरिहंताणं Turning towards the Divinity परमात्मा की ओर जाना । दुन्यवी पदार्थ के विचारों में से परमात्मा की ओर प्रयाण का मंत्र **'नमो अरिहंताणं'** Namo is the turning point from subconscious to super-conscious. अपने चैतन्य द्रव्य को पर द्रव्य (पुद्गल द्रव्य) के संबंध में से छुडाकर आत्म स्वरुप में स्थिर करने की प्रक्रिया **'नमो अरिहंताणं'** के ध्यान में है ।

परमानंद के अनुभव की प्रक्रिया नमस्कार-भाव में है । परमात्मा के ध्यान द्वारा परमात्मा की पूर्णता का दिव्य प्रकाश अपनी अंतरात्मा में ग्रहण कर सकते है । उसके द्वारा आत्म स्वरुप के अनुभव रुप रत्नत्रयी में रमणता और तत्वत्रयी का त्रिवेणी संगम प्राप्त होता है । उससे परमानंद का अनुभव होता है ।

नमो अर्थात् पर रुपेण नास्तित्व, अरिहंताणं अर्थात् स्वरुपेण अस्तित्व । नमो अर्थात् विभाव में से छूटना । अरिहंताणं अर्थात् स्वभाव में स्थिर होना । नमो अर्थात् पर भाव का विस्मरण । अरिहंताणं अर्थात् स्वभाव में रमण । नमो अर्थात् बहिरात्म भाव का त्याग । अरिहंताणं अर्थात् अंतरात्म भाव द्वारा परमात्म भाव का अनुभव । नमो अर्थात् अहंकार का नाश End of Egoism.

अरिहंताणं अर्थात् नमस्कार की पराकाष्ठा । नमो अर्थात् संसार की असारता का स्वीकार । अरिहंताणं अर्थात् `मोक्ष ही सार है', इसका स्वीकार । नमो अर्थात् जड-चैतन्य का भेद-विज्ञान । अरिहंताणं अर्थात् चैतन्य को सारभूत मानकर उसमें स्थिर होने की प्रक्रिया । नमो अर्थात् संसार के विचारों में से मुक्त होना । अरिहंताणं अर्थात् मध्य बिंदु Centre आत्मा में स्थिर होना ।

प्रश्न 64 :– सकल आगम का सार क्या हैं ?

उत्तर :– सकल आगम का सार श्री नवकार है ।

जिण सासणस्स सारो, चउदस पुव्वाण जो समुद्धारो ।
जस्स मणे नवकारो, संसारो तस्स किं कुणइ ?

जिन शासन का सार, चौदह पूर्व का समुद्धार ऐसा नवकार जिसके मन में रहा हुआ है, उसका यह संसार क्या कर सकता हैं ? अर्थात् यह संसार उसका कुछ भी अहित करने में समर्थ नहीं है ।

ज्यों ज्यों समस्त आगमों का अभ्यास बढता जाता हैं, त्यों त्यों नवकार के विशिष्ट अर्थ समझ में आते जाते है ।

समस्त आगमों का संक्षेप श्री नवकार हैं और नवकार का विस्तार समग्र द्वादशांगी है । नमस्कार के जाप और ध्यान के साथ शास्त्राभ्यास भी बढाना चाहिये । शास्त्रों के परम रहस्यों की प्राप्ति के लिए शास्त्र के प्रणेता परमेष्ठि भगवंतों के प्रति विनय, बहुमान और नमस्कार अनिवार्य है ।

समग्र जिन शासन और जिन आगम का सार `शुद्ध-आत्मा' है । नवकार मंत्र में शुद्ध आत्म स्वरुप को पाए हुए अरिहंत और सिद्ध

भगवंत को नमस्कार किया जाता है । नमस्कार द्वारा उन परम विशुद्ध परमात्मा का प्रणिधान होने से नमस्कार के आराधक को अपने शुद्ध आत्म चैतन्य का ज्ञान और भान होता है और शुद्ध आत्म स्वरुप को प्रगट करने के लिए पुरुषार्थ करनेवाले आचार्य, उपाध्याय और साधु पद का प्रणिधान होने से आराधक को शुद्ध आत्म स्वरुप की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने का मन होता है ।

नमस्कार मंत्र के अक्षर ध्यान द्वारा मंत्राक्षर और परमात्मा के सर्व अंगों में से निकलते हुए दिव्य प्रकाश में परमात्मा के पूर्ण शुद्ध आत्म स्वरुप का दर्शन होता है । जब वह प्रकाश अपनी आत्मा को भेदकर प्रसार होता हैं, तब उस प्रकाश के दिव्य तेज में दैह से भिन्न, केवलज्ञान आदि से पूर्ण, अचिंत्य शक्ति के भंडार स्वरुप अपनी शुद्ध आत्मा का दर्शन हो, ऐसी दिव्य-पलें आती है ।

परमात्मा के पूर्ण प्रकाश के आलंबन से स्व आत्मा के दिव्य स्वरुप का दर्शन होना, यही सच्चा नमस्कार है । उसी को सच्चा पुरुषार्थ कहा गया है । उसी का जीवन धन्य हैं, जो परमात्मा के आलंबन से स्व आत्मा का अनुभव करता है । उन्हीं महान् आत्माओं का जीवन धन्य हैं, जो अरिहंत आदि पदों के उपयोग में सदा लीन है ।

वहीं सच्ची साधना हैं, जिसमें परमात्मा का आलंबन लेकर उसी के आधार पर अपनी आत्मा का अरिहंत-सिद्ध के रुप में ध्यान किया जाता है ।

जिन शासन के किसी भी महत्वपूर्ण प्रसंग में 12 नवकार गिनने की परंपरा है । दीक्षा, उपधान-प्रवेश उपधान-माला, संघ माला, व्रत-उच्चरने आदि प्रसंगों में चतुर्मुख भगवान को तीन प्रदक्षिणा देकर प्रत्येक भगवान के सामने 1-1 नवकार गिना जाता है ।

प्रत्येक शुभ प्रसंग के प्रारंभ में 12 नवकार गिने, जिससे वह कार्य निर्विघ्न पूर्ण होगा ।

प्रश्न 65 :– नवपद का रहस्य क्या हैं ?

उत्तर :– श्रीपाल रास में गौतम स्वामी भगवंत देशना में फरमाते हैं–

आराधनानुं मूल जस, आतम भाव अछेह ।
तेणे नवपद छे आतमा, नवपद मांहे तेह ।।

श्री नवपद में आत्मा है और आत्मा में नवपद है । नवपद में आत्मा और आत्मा में नवपद का अनुभव करने के लिए देशना में गौतमस्वामी भगवंत फरमाते हैं-

ध्येय समापत्ति हुए, ध्याता ध्येय प्रमाण ।
तेणे नवपद छे आतमा, जाणे कोई सुजाण ।।

अपना उपयोग, अपना ध्यान नवपद में हो तब अपनी आत्मा कहा हैं ?

इसका उत्तर स्पष्ट हैं कि जब अपना उपयोग नवपद में लीन होता हैं, तब अपनी आत्मा नवपद में है ।

जब अपनी आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ के उपयोग में परिणत होती हैं, तब अपनी आत्मा क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी के आकार में परिणत होती है । उसी प्रकार परमात्मा के मंदिर में जाकर जब अपना उपयोग परमात्मा में स्थिर होता है, तब अपनी आत्मा परमात्मा का आकार धारण करती है ।

तब हम नवपद के ध्यान में तन्मय, तद्रुप, तदाकार रहते हैं, तब अपनी आत्मा नवपद के आकारवाली बनती है, अर्थात् जब अपनी आत्मा नवपद के उपयोग में स्थिर होती हैं, तब अपनी आत्मा में नवपद है ।

Objectively अर्थात् निमित्त दृष्टि बिंदु से नवपद में आत्मा हैं और Subjectively अर्थात् उपादान दृष्टि बिंदु से आत्मा में नवपद है ।

यह तत्त्वज्ञान जगत् का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान Supreme Science है ।

अरिहंत पद ध्यातो थको दव्वह गुण पज्जाय रे,
भेद छेद करी आतमा, अरिहंत रुपे थाय रे ।

परमात्मा के ध्यान में तद्रुप बनी आत्मा जितने समय तक तदाकार उपयोग में परिणत होती है, उतने समय तक भेद का छेद कर स्वयं आगम से, भाव निक्षेप से अरिहंत रुप बनती हैं । **परिणमते**

येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति । अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात् ।।

जिस अरिहंत आदि भाव द्वारा आत्मा परिणत होती है, उस अरिहंतादि भाव द्वारा वह आत्मा तन्मय-अरिहंतादिमय बनती है । इस कारण अरिहंत के ध्यान में निष्ठ आत्मा उस अरिहंत के भाव से स्वयं ही भाव अरिहंत (आगम से) होती है ।

कहा है–

ध्येय समापत्ति हुए, ध्याता ध्येय प्रमाण ।
तेणे नवपद छे आतमा, जाणे कोइ सुजाण ।। (श्रीपालरास)

ध्येय नवपद है, ध्याता अपनी आत्मा है, ध्यान प्रक्रिया चालू है । जिस समय ध्याता चैतन्य, ध्येय स्वरुप में निष्ठ हो जाता है जिस समय ध्याता का उपयोग ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, उस समय नवपद में आत्मा और आत्मा में नवपद का अनुभव होता है ।

आज तक नवपद में आत्मा और आत्मा में नवपद के ध्यान से अनंत आत्माओं ने सिद्धिपद प्राप्त किया है । आज भी उस ध्यान से अपनी भूमिका के उचित आत्म स्वरुप का अनुभव Realisation of Reality कर सकते है । इस कारण नवकार व नवपद की आराधना आत्म साक्षात्कार की अनुभवसिद्ध प्रक्रिया है ।

सिद्धचक्र, शुद्धिकरण और पूर्णता की प्राप्ति का मास्टर प्लान है Progressive plan for purification perfection.

प्रश्न 66 :– सद्गुरु की महिमा क्या है ?

उत्तर :– सद्गुरु की मनोहर मूर्ति का जो ध्यान करता है, उसका चित्त शुद्ध बनता है । सद्गुरु के मुख से प्रकाशित शब्द से शिष्य की बुद्धि सत्य के पथ पर चलती है ।

सद्गुरु के पाद-पद्म के दिव्य स्पर्श से शक्ति का संचार होता हैं, इसके परिणाम स्वरुप परमात्मा का मिलन होता है ।

सद्गुरु से अज्ञान का उच्छेद और निर्मल आत्मज्ञान का उदय होता है ।

प्रश्न 67 :– सम्यग्दृष्टि का ध्येय क्या ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि का ध्येय निज आत्मा है । क्योंकि वो ही आनंद का धाम है । आत्मा को सबसे प्रिय केवलज्ञान है । केवलज्ञान स्वभाव जिसे प्रिय लगे, उसे जगत् में कुछ भी प्रिय नहीं लगता है ।

संयोग में सुख नहीं, किंतु सुख का मिथ्या आभास है । स्वभाव सुख का निर्णय करना ही सम्यक्त्व है ।

निश्चयनय के विषयभूत शुद्ध आत्मा को भूलकर जो जीव, व्यवहार नय के विषयभूत अशुद्धता को ही एकांत सत्य मानता हैं, वह जीव पर-द्रव्य में विमोहित है ।

सम्यग्दर्शन शुद्ध परिणति है । शुद्ध उपयोग क्रियात्मक है । अन्तर्मुख होकर स्वभाव का आश्रय करना शुद्ध उपयोग है । और वो ही मुक्ति पंथ है । मोह के क्षय का यही एक मार्ग है ।

प्रश्न 68 :– धर्मलाभ का रहस्य क्या हैं ?

उत्तर :– धर्मलाभ का अर्थ आत्मलाभ है । आत्मा सदा के लिए पर द्रव्य, पर भाव से भिन्न और निज स्वभाव से अभिन्न है ।

आत्मा का लाभ, वह उत्कृष्ट मंगल है और सर्व पापों के मूल रुप मिथ्यात्व का क्षय है ।

पंच परमेष्ठि नमस्कार से सर्व अनात्म भावों का नाश और शुद्धात्म भाव का प्रगटीकरण होता है ।

अरिहंत के ध्यान से अभय, अद्वेष और अखेद की प्राप्ति होती है ।

अरिहंत का ध्यान, अभेदनय से निजशुद्धात्मा का ध्यान है । अभेदनय से शुद्धात्मा के ध्यान से अभय, अद्वेष और अखेद की प्राप्ति होती है ।

अनात्मा में आत्म-बुद्धि भय, द्वेष और खेदजनक है, यदि बुद्धि जब आत्मा में आत्म-बुद्धि धारण करती हैं, तब भय, द्वेष और खेद दूर हो जाते है ।

आत्मा की नित्यता भय को दूर करती है । आत्मा की शुद्धता, द्वेष को दूर करती है । आत्मा का बुद्धत्व खेद को दूर करता है ।

आत्मा में रहा आत्मत्व भय-विरोधी है, चैतन्य द्वेष-विरोधी है और आनंदमयत्व खेद की प्रतिपक्षी है ।

नाम-रुप को दूर कर जब सत् चित् आनंद स्वरुप का ध्यान किया जाता है, तब अभय, अद्वेष और अखेद गुण स्वतः प्रगट होते है ।

अरिहंत में ये तीनों गुण प्रकट होने से उनके ध्यान से अपनी आत्मा में भी ये तीन गुण प्रगट होते है ।

प्रश्न 69 :– भक्ति का क्रम क्या है ?

उत्तर :–

1) हम प्रभु के है ।
2) मैं प्रभु का हूँ ।
3) प्रभु मेरे है ।
4) मैं और प्रभु एक हैं ।

ये भक्ति के क्रमिक सोपान है अंतिम भक्ति अभेद भावना है ।

देवा वि तं नमंसंति

जिसका मन धर्म अर्थात् अपने स्वरुप में रमण करता है, उसे देवता भी नमस्कार करते है । साधक देवता के चरणों में रमण नहीं करता हैं बल्कि देवता साधक के चरणों में रमण करते है ।

शरीर को नहीं, कषायों को क्षीण करने से मुक्ति मिलती है ।

मैत्री आदि भावों से 'अहं' टूटा हैं, अनित्य (वैराग्य) आदि भावनाओं से 'मम' टूटता है ।

'मैत्री निरपेक्ष वैराग्य से अहं का पोषण होता है ।'

वैराग्य निरपेक्ष मैत्री से मम का पोषण होता हैं, अतः दोनों जरुरी है ।

नवकार मंत्र में पाप का प्रायश्चित्त है । आज तक स्मरण करने योग्य का स्मरण नहीं करने से अनंत पापों का सर्जन किया हैं, उसका विसर्जन, उनका स्मरण करने से ही हो सकता है । अतः उनका

स्मरण, पाप का प्रायश्चित्त है । प्रायश्चित्त के बाद ही सभी क्रियाएँ सार्थक होती है ।

`नमो' पद आदर सूचक है, `कृतघ्नता' दोष का प्रायश्चित्त ही नवकार है ।

प्रश्न 70 :– सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र का स्वरुप क्या है ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शन अर्थात् परमात्म स्वरुप की श्रद्धा । सम्यग्ज्ञान-अपनी आत्मा में उस स्वरुप का होना, उसका स्वीकार ।

सम्यक् चारित्र-निश्चय नय से सर्व जीवों में उस स्वरुप की स्वीकृति तथा तत्पूर्वक उचित व्यवहार ।

ये तीन गुण स्थिर होने से अभय, अद्वेष और अखेद गुण की प्राप्ति होती है । सम्यग्दर्शन से अभय, सम्यग्ज्ञान से अद्वेष और सम्यग्चारित्र से अखेद का अनुभव होता है ।

प्रश्न 71 :– नवकार और सामायिक का क्या अंतर हैं ?

उत्तर :– श्री नमस्कार महामंत्र का स्मरण आत्मतत्व के प्रति प्रीति-भक्ति उत्पन्न करने के लिए है । **`करेमि भंते'** की प्रतिज्ञा अनात्मतत्व में से छूटने के लिए है । एक प्रवृत्ति रुप हैं, दूसरी निवृत्ति रुप है । संसार और उसके हेतुओं से विराम पाना तथा मोक्ष और मोक्ष के हेतुओं में प्रवृत्त होना यह अनुकूल निवृत्ति और प्रवृत्ति पक्ष है ।

दोनों सापेक्ष हो, तब शुद्ध होते है । भव का कारण आत्मा का अज्ञान है । उस अज्ञान से पुद्गल में आत्म भाव पैदा होता हैं, जिससे राग-द्वेष होते हैं ।

प्रश्न 72 :–प्रभु की नामादि निक्षेप से आराधना से क्या लाभ हैं ?

उत्तर :– प्रभु के नाम स्मरण से पाप का नाश, प्रभु के रुप-दर्शन से पुण्य का प्रकाश, प्रभु के द्रव्य से आत्म-बोध होता है ।

नाम, आकृति, द्रव्य और भाव ये चारों पापनाश, पुण्यलाभ, आत्मज्ञान और आत्मध्यान के परम कारण बनते है ।

भव्यत्व परिपाक करने के सभी उपायों का संग्रह आर्हत्य के ध्यान और नामादि से की गई उपासना में है ।

जानने योग्य और देखने योग्य विश्व की समस्त वस्तुओं का संग्रह प्रभु के नाम व रुप में आ जाता है ।

विश्व की सर्व श्रेष्ठ समृद्धि का दर्शन प्रभु मूर्ति के दर्शन में हैं ।

प्रभु के नाम मंत्र द्वारा शुद्ध आत्म-तत्व का मनन होता है ।

प्रभु के रुप दर्शन द्वारा शुद्ध आत्मतत्व का ध्यान होता है ।

आत्मतत्व के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ।

आत्मतत्व को देखने के बाद कुछ भी देखने योग्य बाकी नहीं रह जाता है ।

अतः पर वस्तु में राग, द्वेष, ममता आदि छोड दे । पुद्गल का संयोग है, तब तक पुद्गल का कार्य पुद्गल करता है ।

हे आत्मन् !

तू मालिक हैं, ये इन्द्रियाँ आदि नोकर है । इन्द्रियों के भरोसे रहकर तूने खूब मार खाई है । अब अरिहंत परमात्मा के वचन पर पूर्ण विश्वास रख ।

संसार के सभी जीव मेरे आत्म तुल्य है । जैसा सुख मुझे प्रिय हैं, वैसा ही सुख सभी जीवों को प्रिय है ।

आत्महित के लिए किसी भी जीव को दुःख न देकर सभी जीवों को सुखी करने की भावना में रत रहना चाहिये ।

सर्व जीवों को सुखी करने के लिए संवर-निर्जरा के कार्यों में रात-दिन व्यस्त रहना चाहिये `इसके लिए अरिहंत परमात्मा की सेवा, भक्ति, प्रार्थना व शरणागति ही एक मात्र उपाय है ।

प्रश्न 73 :– सामायिक क्या हैं ?

उत्तर :– सामायिक आत्मा है

सामायिक, ज्ञान दर्शन-चारित्र स्वरुप है ।

सामायिक जीव का उपयोग है ।

जीव का लक्षण उपयोग है ।

सामायिक अपना स्वभाव है । अनादिकाल से विभाव में रही आत्मा को सामायिक द्वारा स्वभाव में ला सकते है । साम सम और सम्म (सम्यक्त्व) ये सामायिक के तीन भेद है ।

आत्मा उपयोग लक्षण रुप हैं, परंतु उस उपयोग में आत्मा स्थिर नहीं रह पाती हैं अतः जिनका उपयोग आत्मा में स्थिर है, उन्हें नमस्कार करना चाहिये ।

प्रश्न 74 :– हित शिक्षा फरमाए ।

उत्तर :– परमात्मा तीन बात बतलाते हैं-

जीव अनादि है । अनादि काल से कर्म से संबद्ध है अतः अनादि काल से संसार में भटक रहा है । उसमें से छूटने का उपाय चार के शरण, सुकृत अनुमोदन व दुष्कृत गर्हा है ।

अरिहंत आदि में शरण देने की शक्ति हैं, यह श्रद्धा रखना महत्त्वपूर्ण है ।

कर्म के नियम की श्रद्धा के बाद धर्म के नियम की श्रद्धा जरुरी है ।

अरिहंत धर्म के मूल है ।

सिद्ध धर्म का फल है ।

साधु धर्म का स्वरुप है ।

मांगने की वृत्ति में से छूटने के लिए मोक्ष मांगने का है ।

`मांगने की वृत्ति नष्ट हो' इस मांग में मोक्ष की मांग है ।

इच्छा रहित होने की इच्छा यह मोक्ष है ।

जीव तत्व का प्रेम मोक्ष देता है । चींटी-मकोडा आदि तो जीव के पर्याय है, उनमें भी जीव हैं, उसका अपमान नरक में ले जाता हैं और उसका बहुमान स्वर्ग में ले जाता है ।

सिद्धो के अनादर से निगोद और बहुमान से मोक्ष मिलता है ।

`आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।'

`सभी को सुख प्रिय हैं, दुःख अप्रिय हैं' ऐसा समझकर अन्य जीवों को दुःख देना बंद करो ।

परवस्तु में पागल बनकर अठारह पाप कर्म में लगे हुए हो, उन पापों का फल अवश्य भुगतना पडेगा, अतः सुखी होना हो तो अपनी पूरी ताकत पाप को रोकने में लगा दो ।

जीव मात्र को अपनी ओर से दुःख देना बंद कर दो, तभी नए कर्मों का आगमन रुक सकेगा और सभी जीवों को सुखी करने में अपने मन-वचन और काया को जोड दे, तभी संवर और निर्जरा की साधना द्वारा सिर्फ आनंद ही आनंद के तुम भोक्ता बन सकोगे ।

• **आत्म भावना**

मैं ज्ञाता, दृष्टा, अरुपी, शुद्ध आत्म तत्व हूँ । सिद्ध स्वरुपी, निरंजन, निराकार ज्योति स्वरुप हूँ !

पुद्गल के राग, मोह, ममता के कारण जड का संयोग चला आ रहा है ।

जीव नए कर्म बांधता रहता है और जन्म, जरा, मृत्यु और विविध दुःखों द्वारा पुराने कर्मों को खपाता रहता है ।

• **तत्व चिंतन**

सोए हुए चेतन को जगाने के लिए महापुरुषों ने ठीक ही कहा हैं–

ज्ञान अनंत जीवनो निज गुण, ते पुद्गल आवरीया जी,
अनंत शक्तिनो धणी ते, इण कायर करीयाजी ।।1।।

पुद्गल मोह प्रसंगे चेतन, चार गति में भटकेजी,
पुद्गल मोह तजी शिव जातां, समय मात्र नहि अटकेजी ।।2।।

गर्भादिक दुःख वार अनंती, पुद्गल संगे पायोजी,
पुद्गल संग निवार पलक में, अजरामर कहेवायोजी ।।3।।

जन्म जरा मरणादिक चेतन, नानाविध दुःख पावेजी,
पुद्गल संग निवार वह दिन, अजरामर हाथ थावेजी ।।4।।

हे आत्मन् !

आत्मा के लिए एक पुद्गल की भी जरुरत नहीं है । एक पुद्गल भी आत्मा को काम नहीं लगता है ।

धर्म Protector रक्षक हैं ।

कर्म का कर्ता जीवात्मा है ।

बहिरात्म भाव का त्यागकर अंतरात्म-भाव में स्थिर रहकर परमात्म भाव की भावना करना ही परमात्मा की शरणागति का उपाय है ।

अंतरात्म भाव में आकर परमात्मा का स्मरण करने से उपयोग रुप में परमात्म भाव में स्थिर हो सकते हैं ।

संसार में सर्वत्र न्याय हैं, क्योंकि कर्म का साम्राज्य सर्वत्र हैं और कर्मसत्ता न्यायी है ।

कर्मसत्ता न्यायी ईश्वर है ।

धर्म सत्ता दयालु ईश्वर है ।

जिसने आत्म तत्व का चिंतन नहीं किया, उसका मनुष्य जन्म निष्फल है ।

वैराग्य बिना सर्व विरति नहीं और
मैत्री बिना मुक्ति नहीं ।
वैराग्य के लिए मृत्यु को सामने लाए,
मैत्री के लिए भव भ्रमण का विचार सामने रखे ।

प्रश्न 75 :– प्रभु के पास क्या मांगना चाहिये ?

उत्तर :– प्रभु के पास संसार नहीं मांगना हैं किंतु प्रभु की प्रभुता मांगने की है । प्रभु की प्रभुता के साथ संबंध जोडने के लिए संसार के साथ संबंध तोडने का है ।

साधक जिनेश्वर को जितने अधिक प्रेम और आदर से देखता हैं, उतनी ही अधिक हृदय में तृप्ति का अनुभव होता है । साधक, जिनेश्वर को जितना अधिक महान् समझता हैं, वह उतना ही अधिक महान् बनता है ।

जिनेश्वर के प्रति रहा पूज्य भाव, जिनेश्वर को नहीं, किंतु अपनी ही आत्मा को फलदायी बनता है ।

प्रश्न 76 :– प्रभु दर्शन का क्या उपाय हैं ?

उत्तर :– कर्म Creator God है ।

जीव में जीव बुद्धि, बोधि है ।

जीव में शिव बुद्धि, समाधि है ।

अशुभभाव दुश्मन का घर है, उससे छूटने का उपाय दुष्कृत-गर्हा है । शुभ भाव मित्र का घर हैं उससे छूटने का उपाय सुकृंतानुमोदन है । शुद्ध भाव-अपना घर है, उसे पाने का उपाय शरण गमन है ।

प्रश्न 77 :– हर दिन कौनसी भावना करनी चाहिये ?

उत्तर :– 'अरिहंतो मह देवो ।'

1) अरिहंत परमात्मा मेरे देव हैं । वे मोह, माया और ममता के सर्वथा त्यागी हैं । उनका वचन मुझे संपूर्ण मान्य है । उनके एक वचन में भी संदेह नहीं है । उनकी आज्ञा सुखकारी, कल्याणकारी और हितकारिणी है । इस भव, परभव और भव भव में सुख देनेवाली है ।

2) अरिहंत परमात्मा के कहे वचन पर विश्वास रखनेवाले, उनके वचनानुसार प्ररुपणा करने वाले, कंचन-कामिनी के त्यागी और पंच महाव्रतधारी मेरे गुरु हैं ।

3) अरिहंत के वचनानुसार दयामय मेरा धर्म हैं, निश्चय से वस्तु-स्वभाव रुप धर्म है । व्यवहार से प्रभु आज्ञा पालन धर्म है । उपयोग में धर्म हैं । यतना में धर्म है ।

दुर्गति में गिरते हुए जीव को जो बचाए वह दसविध यति-धर्म है ।

मेरी आत्मा जब तक संसार में रहे तब तक मुझे अरिहंतादि चार की शरण हैं ।

मेरी आत्मा ने इस भव में या गत भवों में जान बूझकर या अनजान में जिनाज्ञा विरुद्ध मन से चिंतन, वाणी से भाषण और काया से प्रवृत्ति की हो उन सब अशुभ कर्मों की मैं निंदा करता हूँ, तीन बार मिच्छामि दुक्कडम् देता हूँ ।

मेरी आत्मा ने इस भव में या गत भवों में वीतराग की आज्ञानुसार जो कुछ भी मन, वचन और काया से प्रवृत्ति की हो उन सबकी मैं बार बार अनुमोदना करता हूँ और पुनः पुनः करने की भावना रखता हूँ ।

7 नमस्कार महामंत्र

प्रश्न 78 :– 'श्री पंच परमेष्ठी–नमस्कार' इस पद का क्या अर्थ है?

उत्तर–परमपद पर विराजमान अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों को नमन करने की क्रिया का नाम पंचपरमेष्ठी–नमस्कार है ।

प्रश्न 79 :– इन पाँचो को परमेष्ठी क्यों कहा जाता है?

उत्तर–परम अर्थात् उत्कृष्ट स्थान पर स्थित होने से श्री अरिहंत आदि पाँचों को परमेष्ठी कहा जाता है ।

प्रश्न 80 :– श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कारमंत्र को 'नवकारमंत्र' क्यों कहा जाता है?

उत्तर–'नवसु पदेषु काराः क्रियाः यस्मिन् स नवकारः ।' अथवा **'नवकारा क्रिया यस्मिन् स नवकारः ।'** अर्थात्, जिसके नौ पदों में (पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी, अनानुपूर्वी द्वारा गिनने से) क्रिया में भेद है अथवा जिसके गिनने की नौ क्रियाएँ हैं, उसे नवकार कहते हैं । इसलिए **'श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार महामंत्र'** का दूसरा नाम **'श्री नवकार मंत्र '** भी है ।

प्रश्न 81 :– श्री नवकारमंत्र में 'नमो' इस पद का प्रथम अक्षर 'न' समझे या 'ण'?

उत्तर–प्राकृत भाषा में सर्वत्र शब्द के प्रारंभ में **'न' कार** के स्थान पर **'ण' कार** का आदेश विकल्प से होता है । इसलिए **'नमो'** और **'णमो'** ये दोनों पद शुद्ध हैं, फिर भी **'ण'** कार छंदशास्त्र में निषिद्ध दग्धाक्षर है, इसलिए **'नमो'** यह उच्चारण को शुद्ध माना गया है । कितने ही लोग **'ण'** कार को ज्ञान का वाचक मानते हैं और दग्धाक्षर होते हुए भी उसे मंगल स्वरूप मानते हैं । ऐसे लोग **'णमो'** पद का उच्चारण करते हैं, लेकिन यह बहुत प्रचलित नहीं है ।

प्रश्न 82 :– 'नमः' इस पद का संक्षेप में क्या अर्थ है?

उत्तर–'नमः' यह नैपातिक पद द्रव्य और भाव का संकोच या संक्षेप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । हाथ, पाँव और मस्तक आदि शरीर के अवयवों के ग्रहण, कंपन और चलन आदि क्रियाओं को रोकना, नियमित करना यह द्रव्यसंकोच है और विशुद्ध मन का प्रयोग (मन की शुद्धता) यह भावसंकोच है । अर्थात् **'नमः'** इस पद से द्रव्य और भाव इन दोनों प्रकारों के नमस्कार का द्योतक होता है ।

प्रश्न 83:–'नमो अरिहंताणं' इस पाठ के स्थान पर अरहंताणं और अरुहंताणं ये पाठ भी मिलते हैं । इनमें से कौन–सा पाठ ठीक है?

उत्तर–'नमो अरिहंताणं' यही पाठ ठीक है । फिर भी श्री अरिहंत परमात्मा के विभिन्न गुणों की अपेक्षा अर्थ की दृष्टि से तीनों पाठ एक ही अर्थ बताते हैं । लेकिन पाठभेद न हो इसलिए **'नमो अरिहंताण'** पद का उच्चारण सिद्ध माना गया है ।

प्रश्न 84 :– 'अरिहंत', 'अरहंत' और 'अरुहंत' इन तीन पदों के अर्थ में क्या अंतर है?

उत्तर–सबसे पहले **'अरिहंत'** पद का अर्थ संक्षेप में देखें । **'अरि'** यानी शत्रु, उसे **'हंत'** यानी हनन करनेवाला यह अर्थ होता है । इस संबन्ध में शास्त्रों में कहा गया है कि–

अट्ठविहंपि य कम्मं, अरिभूअं होइ सव्वजीवाणं ।
तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण वुच्चन्ति ।।

आठ प्रकार के कर्म ही सभी जीवों के लिए शत्रुभूत हैं । इन कर्मरूप शत्रुओं का नाश करने वाले होने से श्री **'अरिहंत'** कहलाते हैं ।

अथवा

रागद्दोसकसाए, इंदियाणि अ पंच वि ।
परिसह उवसग्गे, नामयंता नमोऽरिहा ।।

राग, द्वेष, कषाय, पाँच इंद्रिय, परिषह और उपसर्गों को झुकाने वाले श्री अरिहंत नमस्कार करने योग्य हैं ।

अथवा

इंदियविसयकसाये, परिसहे वेयणा उवसग्गे ।
एए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चन्ति ।।

इंद्रिय, विषय, कषाय, परिषह, वेदना और उपसर्ग ये शत्रु हैं । इन शत्रुओं का हनन करनेवाले होने से **'अरिहंत'** कहलाते हैं ।

इन तीनों गाथाओं का समुच्चय रूप में अर्थ यह है कि–इस संसाररूपी गहन वन में जीवों को अनेक प्रकार के दुःख देनेवाले राग, द्वेष, मोह आदि दोष हैं । इसलिए इन दोषों को उत्पन्न करने वाले इंद्रियों के विषय, क्रोधादि कषाय, बाईस प्रकार के परिषह, अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक वेदनाएँ, देव, मनुष्य और तिर्यंच (पशु–पक्षी) आदि के उपसर्ग ये सब जीव के पारमार्थिक शत्रु हैं । इनके कारण जीव अनंत भवों में भ्रमण करानेवाले ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों का बंध करता है । जैसे बादलों से सूर्यमंडल आच्छादित होता है, वैसे जीव के ज्ञानादि गुण ढक जाते हैं । यह आच्छादन ही जीव के लिए शत्रुभूत है । उसका सर्वथा उन्मूलन करने वाले होने से **'अरिहंत'** कहलाते है ।

अब **'अरहन्त'** पद के दूसरे व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ पर विचार करेंगे । वह यह है–

'अशोकादिअष्टमहाप्रातिहार्यरूपपूजामर्हन्तीति अर्हन्तः ।'

अर्थात् देवताओं द्वारा निर्मित अशोक वृक्षादि आठ महाप्रतिहार्यों के रूप में जो पूजा के योग्य हैं, वे अर्हन्त हैं ।

इस संबन्ध में शास्त्रों में कहा है कि–

अरिहंति वंदणनमंसणाइं, अरिहंति पूयसक्कारं ।
सिद्धिगमणं च अरिहा, अरहंता तेण वुच्चंति ।।

वंदन–नमस्कारादि के लिए जो योग्य हैं, वे अरहंत (अर्हत्) कहलाते हैं ।

श्री **'चतुःशरणप्रकीर्णक'** में कहा है–

थूइवंदणमरहंता अमरिंद-नरिंद-पूयमरहंता ।
सासयसुहमरहंता, अरहंता हुंतु मे सरणं ।।

जो स्तुति और वंदन के योग्य हैं, अमरेन्द्रों और नरेन्द्रों के लिए

पूजनीय है और शाश्वत सुख के योग्य हैं, वे अरिहंत भगवंत मुझे शरण देनेवाले हैं ।

'अरहंत' शब्द के प्राकृत में **'अरोहन्त'** और **'अराहन्त'** रूप भी बन सकते हैं । उसका भाव यह है कि **'रह'** यानी एकान्त और **'अन्त'** यानी गिरि–गुफा आदि का मध्यभाग, ये दोनों जिसकी दृष्टि से दूर नहीं हैं, अर्थात् जो अति गुप्त वस्तुसमूह को भी जान सकते हैं, वे **'अरहोन्त'** कहलाते हैं ।

अथवा–**'रह'** यानी रथ (बाह्य परिग्रह) और **'अत्र'** यानी (जरा, मरण) विनाश के कारण जिनके लिए नहीं हैं, वे **'अरहान्त'** कहलाते हैं ।

'अरहंताणं' इस प्राकृत पद का संस्कृत में **'अरहयद्भ्यः'** रूप बनता है । उसका अर्थ दो प्रकार से होता है । एक–**'अरहयद्भ्यः'** यानी **'अत्यजद्भ्यः'** यानी अर्थात् प्रकृष्ट रागादि के कारणभूत सुंदर विषयों का संपर्क होने पर भी जो अपना वीतराग स्वभाव नहीं छोड़ते हैं, वे अरहंत हैं ।

'अरहयद्भ्यः' यानी **'अगच्छद्भ्य'** गत्यर्थक धातुएँ प्राप्त्यर्थक भी होती हैं, अतः वीतरागतादि का स्वभाव छोड़ कर रागयुक्तता को कभी न पाने वाले होने से भी अरहंत कहलाते हैं ।

इस प्रकार **'अरहंत'** शब्द के निर्युक्तिसिद्ध अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं । लेकिन विस्तारभय से उन सबको यहाँ नहीं दिया जा सकता । पंडित श्री **गुणरत्नमुनिजी** ने एक स्थान पर श्री **'अरहंत'** पद के 110 अर्थ किए हैं ।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भगवंत श्रीमद् **हेमचंद्रसूरीश्वरजी** महाराज ने पृषोदरादि की तरह श्री **'अरहंत'** पद के तीन सामासिक अर्थ किए हैं । **'अरिहननात्', 'रजोहननात्'** तथा **'रहस्याऽभावात्'।** इस व्याख्या से **'अरिहंत'** पद सिद्ध होता है । उसका अर्थ **'अरिहंत'** पद का जो अर्थ किया, उससे मिलता–जुलता है । उनमें पहले **'अरिहननात्'**–इसमें **'अरिहंत'** का अर्थ है–संसार रूप गहन वन से संबद्ध मोहादि शत्रुओं का हनन करने वाले होने से **'अरहंत'** है । दूसरा **'रजोहननात्'** –इसमें अरहंत का अर्थ है : जैसे बादल सूर्यमंडल को ढक देते हैं, वैसे चार घातीकर्मरूपी रज को दूर करने वाले होने से अरहंत है ।

तीसरा–**'रहस्याऽभावात्'** –इसमें अरहंत का अर्थ है–निरवशेष ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की परतंत्रता दूर होने से और किसी से भी अप्रतिहत ऐसा अद्भूत केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट होने से, लोकालोक के (सभी लोकों के) सभी भावों को प्रत्यक्ष जानने से अर्थात् जिनके ज्ञान से कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं है, वे अरहंत हैं ।

अब तीसरे **'अरुहंत'** पद के अर्थ पर संक्षेप में विचार करेंगे । जिस प्रकार बीज के जल जाने से जैसे अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, वैसे कर्मरूप बीज सर्वथा जलकर नष्ट हो जाने से जिनका भवरूप अंकुर उगता नहीं है, वे **'अरुहन्त'** कहलाते हैं ।

प्रश्न 85 :– उपर्युक्त लक्षणों से युक्त श्री अरिहंत भगवंतों को नमस्कार करने का मुख्य प्रयोजन क्या है?

उत्तर–संसाररूपी महा भयंकर गहन वन में भटक–भटक कर दुःखी और थके हुए जीवों को अरिहंत भगवंत परमपद का मार्ग दिखाते हैं । इसलिए वे सभी जीवों के परमोपकारी हैं, इसीलिए अरिहंत परमात्मा प्रथम पद में नमस्कार करने योग्य हैं । इस संबन्ध में **'श्री नमस्कारनिर्युक्ति'** में कहा गया है कि–

अडवीस देसियत्तं, तहेव निज्झामया समुद्दंमि ।
छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति ।।

श्री अरिहंत परमात्मा भव अटवी में मार्गदर्शक होने से, भव समुद्र में निर्यायक होने से तथा षट्काय जीव रूपी गाय के पालक होने से महागोप कहलाते हैं । इस कारण वे नमस्कार के लिए परम पात्र हैं ।

प्रश्न 86 :– व्याकरण के नियम के अनुसार 'नमस्' शब्द के साथ संप्रदान कारक (चतुर्थी विभक्ति) आनी चाहिए, फिर यहाँ संबन्ध (षष्ठी विभक्ति) का प्रयोग क्यों किया गया है?

उत्तर–प्राकृत भाषा में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती है, बल्कि चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का ही प्रयोग किया जाता है । कहा भी है–

बहुवयणेण दुवयणं, छट्ठिविभत्तीए भण्णइ चउत्थी ।
जह हत्था तह पाया, नमोत्थु देवाहिदेवाणं ।।

अर्थ:– प्राकृत में द्विवचन के स्थान पर बहुवचन और चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है । जैसे, हस्तौ, पादौ, के स्थान पर **'हत्था, पाया'** का प्रयोग होता है । इस प्रकार चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में **'नमोत्थु देवाहिदेवाणं'** इस प्रकार षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है ।

प्रश्न 87 :– 'नमो अरिहंताणं' पद में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का प्रयोग किया है, उसका उद्देश्य/प्रयोजन क्या है?

उत्तर–बहुवचन का प्रयोग करने में तीन मुख्य कारण नीचे दिए जाते हैं–

1.'अरिहंत' एक नहीं है, बल्कि अनंतकाल की अपेक्षा से अंनत हैं, यह बताने के लिए ।

2.विषयबहुत्व से नमस्कार करने वाले को फलातिशय (बहुत अधिक फल) की प्राप्ति होती है, यह बताने के लिए ।

3.गौरव प्रकट करने के लिए ।

उपर्युक्त कारणों से बहुवचन का प्रयोग किया है ।

ये ही तीन कारण बाद में आने वाले पदों में आने वाले बहुवचन के प्रयोग के लिए भी समझ लेने चाहिए और ऐसे ही अन्य संभवित कारणों की अपनी बुद्धि से कल्पना करनी चाहिए । जैसे–अद्वैतवाद का व्यवच्छेद आदि ।

प्रश्न 88 :– प्रथम पद का ध्यान किस रीति से करना चाहिए?

उत्तर–प्रथम पद पर विराजमान श्री अरिहंत परमात्माओं का ध्यान चंद्रमंडल के समान श्वेत वर्ण से करना चाहिए ।

प्रश्न 89 :– 'नमो सिद्धाणं' इस पद में सिद्धों को नमस्कार किया गया है । उन सिद्धों का स्वरूप क्या है?

उत्तर–श्री सिद्धपद के निर्युक्ति, व्युत्पत्ति तथा रूढ़ि के अनुसार निम्नलिखित अर्थ निकलते हैं–

1.**'सितं बद्धमष्टप्रकारकं कर्मध्मातं दग्धं यैस्ते सिद्धा:।'** अर्थात् जिन्होंने चिरकाल से बँधे हुए आठों प्रकारों के कर्मरूपी ईंधनों के समूह को शुक्लध्यान रूपी अग्नि से जला दिया है, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

2.षिधु गतौ ।' इस धातु से **'सिद्ध'** शब्द बना है, उससे यह अर्थ निकलता है कि अपुनरावृत्ति द्वारा (फिर से लौट नहीं आना पड़े इस रीति से) जो मोक्षपुरी में गए हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

3.जो सर्वथा कृत्यकृत्य हो गए हैं, अर्थात् जिनका कोई भी कार्य अधूरा नहीं है, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

4.जो जगत् के लोगों को उपदेश देनेवाले अनुशासक हैं, वे सिद्ध कहलाते हें ।

5.जिनके द्वारा भव्य जीवों को गुणसमूह की प्राप्ति होती है, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

6.जो परम मंगल तत्त्व का अनुभव करने वाले होने से, उनका ध्यान करने वालों के लिए मंगलरूप बनते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

7.जो समाप्त न होने वाली अनंत स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं । उपर्युक्त सभी अर्थों को एक साथ बतानेवाला एक श्लोक शास्त्रों में मिलता है–

ध्मातं सितं येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि ।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धं कृतमंगलो मे ।।

जिन्होंने पूर्वबद्ध प्राचीन कर्मों को जला दिया है, जो मुक्तिरूपी महल के अग्रभाग पर पहुँच चुके हैं, जो जगत् के जीवों के लिए (मुक्तिमार्ग का) उपदेश–अनुशासन–करने वाले के रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं और जिनके सभी प्रयोजन सिद्ध हो गए हैं, ऐसे मंगलरूप बने सिद्ध परमात्मा मुझे मंगलरूप बनें ।

प्रश्न 90 :– श्री सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर–जैसे श्री अरिहंत परमात्मा संसाररूपी जंगल में मार्गदर्शक होने से उपकारी हैं, वैसे ही श्री सिद्ध परमात्मा अविनाशी ऐसे अंनतचतुष्टय (अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र, अनंत वीर्य) को धारण करने वाले होने से भव्य आत्माओं में अत्यंत आनंद उत्पन्न करनेवाले हैं । इस कारण वे भव्य आत्माओं के लिए अत्यंत उपकारक हैं, इसलिए वे भी नमस्कार करने योग्य हैं ।

प्रश्न 91 :– श्री सिद्ध भगवंतों का ध्यान किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर–सिद्ध भगवंतों का ध्यान उगते हुए सूरज के वर्ण समान रक्त (लाल) वर्ण से करना चाहिए ।

प्रश्न 92 :– 'नमो आयरियाणं' इस तीसरे पद से श्री आचार्यों को नमस्कार किया गया है । उनका स्वरूप कैसा है?

उत्तर–'या' यानी मर्यादा से, **'चर्यते'** यानी सेवा करना । अर्थात् श्री जिनशासन के उपदेशक होने से, उस उपदेश की आकांक्षा रखने वाले जीवों के द्वारा जिनकी विनयपूर्वक सेवा की जाती है, वे आचार्य हैं । इस संबन्ध में कहा गया है कि–

सुत्तत्थविऊ लक्खण–जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ अ ।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ ।।

सूत्र और अर्थ दोनों के ज्ञाता, लक्षणयुक्त, गच्छ के नायक होने से गच्छ ते लिए स्तंभ समान और गच्छ की चिंता से सर्वथा मुक्त ऐसे आचार्य **'अर्थ'** का उपदेश देते हैं । अथवा–**'आ'** यानी मर्यादा से और **'चार'** यानी विहार (आचार), उसका पालन करने वाले साधु आचार्य होते हैं । अथवा–पाँच प्रकार के ज्ञानाचारादि आचारों का पालन करने में साधु अर्थात् चतुर होते हैं, वे आचार्य हैं । दूसरो को वही आचार पालन करने का उपदेश देने वाले होने से और साधु आदि को वह आचार दिखाने वाले होने से **'आचार्य'** हैं । इस संबन्ध में **'आवश्यक'** सूत्रांतर्गत **'नमस्कार निर्युक्ति'** में कहा है कि–

पंचविहं आयारं, आयरमाणा तहा पभासंता ।
आयार दंसंता, आयारिया तेण वुच्चंति ।।

पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करने वाले, प्रयत्नपूर्वक दूसरों के सामने उस आचार का उपदेश देने वाले तथा साधुप्रमुख को पाँच प्रकार के आचारों को दिखाने वाले होने से **'आचार्य'** कहलाते हैं ।

'आ' यानी ईषत् (अधूरा), **'चार'** यानी कुशल न होने वाले विनेय (शिष्य) के प्रति साधु, यथार्थ–शास्त्रार्थ का उपदेश करने से उपकारक होते हैं, वे आचार्य हैं ।

उक्त लक्षणों से युक्त आचार्य निरंतर जागरुकता से धर्म का उपदेश देते हैं, वे विकथा–का त्याग किये हुए हैं, देश और काल के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रकार के उपायों से शिष्यों को प्रवचन करने का अभ्यास कराते हैं ।

तीर्थंकर रूपी सूरज और सामान्य केवली रूपी चंद्रमा दोनों, जैनशासन रूपी गगनमंडल में से अस्त हो जाने के बाद, तीनों लोकों में होने वाले पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए जो दीपक का काम करते हैं, उन आचार्य भगवंतों को नमस्कार करने का सौभाग्य धन्यपुरुषों को ही प्राप्त होता है । इन सूरिपुंगवों को किया गया नमस्कार शीघ्रातिशीघ्र भवभय का नाश करने वाला होता है ।

प्रश्न 93:–श्री आचार्य भगवंतों का ध्यान किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर–आचार्य भगवंतों का ध्यान स्वर्ण के वर्ण समान पीले वर्ण से करना चाहिए ।

प्रश्न 94 :– 'नमो उवज्झायाणं' इस पद से श्री उपाध्याय भगवंतों को नमस्कार होता है । इन उपाध्याय भगवंतों का स्वरूप कैसा होता है?

उत्तर–'उप' यानी समीप/जिनके समीप–रहकर शिष्यजन अध्ययन करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं । अथवा जो समीप आए हुए साधु आदि जनों को सिद्धान्तों का अध्ययन कराते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं ।

जिनके सानिध्य से सूत्रों के अध्ययन द्वारा जिनप्रवचन का अधिक ज्ञान और स्मरण होता है, वे उपाध्याय हैं । उस संबंध में श्री जिनागम में कहा है–

बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिओ बुहेहिं ।
तं उवइसन्ति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति ।।

श्री जिनेश्वर देवों द्वारा कथित द्वादशांगी के अध्ययन को पंडित

पुरुष स्वाध्याय कहते हैं । उसका उपदेश करनेवाले होने से **'उपाध्याय'** कहलाते हैं । अथवा–**'उप = उपयोगेन, आ = समन्तात् ध्यायन्तीति उपाध्यायाः।'** जो उपयोगपूर्वक ध्यान करते हें, उनका नाम उपाध्याय है ।

श्री आवश्यक निर्युक्ति में श्रुतकेवली भगवान् **श्री भद्रबाहुस्वामी जी** महाराज ने भी कहा है कि–

उत्ति उवओगकरणे, ज्झत्ति अ झाणस्स होइ निद्देसे ।
एएण होइ उज्झा, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ।।

'उवज्झाय' (उपाध्याय) का एक पर्याय **'उज्झा'** भी है । इसमें **'उ'** यानी **'उपयोग करना'** और **'झ'** यानी ध्यान । अर्थात् जो उपयोगपूर्वक ध्यान करते हें, वे **'उज्झा'** (उपाध्याय) कहलाते हैं ।

अथवा–**'उप समीपे अधिवसनात् श्रुतुस्यायो लाभो भवति येभ्यस्ते उपाध्यायाः ।'** जिनके पास रहने से श्रुत का आय अर्थात् लाभ होता है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं ।

अथवा–**'उपाधेरायो येभ्यस्ते उपाध्यायाः'**

जिनके द्वारा उपाधि (शुभ विशेषणों से युक्त पदवी) की प्राप्ति होती है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं ।

अथवा– **'उपहन्यते आधेर्मानस्या व्यथाया आयः प्राप्तिर्यैस्ते उपाध्यायाः' यद्वा 'उपहन्यते अधियः कुबुद्धेरायः प्राप्तिर्यैस्ते उपाध्यायाः ।' यद्वा 'उपहन्यते अध्यायो दुर्ध्यानं यैस्ते उपाध्यायाः।'** अर्थात् जिनसे मानसिक पीड़ा, कुबुद्धि और दुर्ध्यान नष्ट होता है, वे उपाध्याय हैं ।

प्रश्न 95 :– उक्त लक्षणोंवाले श्री उपाध्याय भगवंतों को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर–उक्त लक्षणोंवाले उपाध्याय भगवंत श्री जिनोक्त द्वादशांगी का अध्यापन करनेवाले होने से तथा सूत्र और अर्थ दोनों का विस्तार करने में रसिक होने से तथा गुरुपरम्परा से प्राप्त जिनवचनों का अध्ययन करने में तत्पर होने से भव्य आत्माओं पर महान् उपकार करने वाले होते हैं ।

शिष्यों को विनय गुण सिखाने वाले होने से भी वे भव्यजीवों के लिए नमस्करणीय हैं ।

प्रश्न 96 :– श्री उपाध्याय भगवंतों का ध्यान किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर–उपाध्याय भगवंतों का ध्यान(स्मरण) मरकतमणि समान नीले वर्ण से करना चाहिए ।

प्रश्न 97 :– 'नमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद का अर्थ 'लोक में होनेवाले सभी साधुओं को नमस्कार है' ऐसा होता है । इन साधुओं का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर–जो ज्ञानादि शक्तियों के द्वारा मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, वे साधु हैं । अथवा–जो स्थावर–जंगम सभी प्राणियों के प्रति समान बुद्धि धारण करने वाले हैं, वे साधु है । इसके संबंध में **'श्री आवश्यक निर्युक्ति'** महाशास्त्र में प्रतिपादन किया गया है–

निव्वाणसाहए जोगे, जम्हा साहन्ति साहुणो ।
समा य सव्वभएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ।।

अर्थ :– निर्वाणसाधक संयमक्रियाओं (योगों) द्वारा जो मोक्ष की साधना करते हैं और जो सभी प्राणियों के प्रति समभाव (वृत्ति) धारण करते हैं, वे भावसाधु कहलाते हैं ।

अथवा

विसयसुहनियत्ताणं, विसुद्धचारित्तनियमजुत्ताणं ।
तच्चगुणसाहगाणं, सदा य किच्चुज्जयाण नमो ।।

अर्थ :– साधु पाँचों इंद्रियों के सुख से निवृत्त होते हैं, विशुद्ध मूल उत्तर को धारण करने वाले हैं, तथ्य (सत्य) गुणों को साधनेवाले हैं और मुक्तिमार्ग में सहायता देने के कार्य में नित्य तत्पर हैं । ऐसे साधुपुरुषों को बारबार नमस्कार है ।

अथवा–

असहाय सहायत्तं, करंति मे संजमं करिन्तस्स ।
एएण कारणेणं, नमामिऽहं सव्वसाहूणं ।।

(धर्मकृत्य में) असहाय ऐसे मुझको संयमपालन में सहायता देने वाले होने से मैं सभी साधुओं को नमस्कार करता हूँ ।

प्रश्न 98 :– उक्त गुणविशिष्ट साधुओं को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन हैं?

उत्तर–साधु पुरुष मोक्षमार्ग में सहायक होने से भव्य आत्माओं के लिए परम उपकारी हैं, इसलिए सभी साधुओं को निरंतर नमस्कार करना उचित है ।

जैसे भ्रमर वृक्ष के सुगंधित पुष्प पर बैठकर उसका थोड़ा सा पराग ग्रहण करता है और फिर दूसरे पुष्प की ओर चला जाता है, इस प्रकार वह अनेक पुष्पों पर भ्रमण कर प्रत्येक से थोड़ा–थोड़ा पराग ग्रहण कर अपनी आत्मा को संतुष्ट करता है, लेकिन किसी भी पुष्प को पीडा नहीं पहुँचाता है, उसी प्रकार साधु भी गृहस्थों के अनेक घरों में परिभ्रमण कर बयालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार की खोज करते हैं और अपने संयमसाधक शरीर का पोषण करतै हैं । वे पाँचों इंद्रियों के तेईस विषयों और उनके 252 (दो सौ बावन) विकारों के वश में नहीं होते हैं, अर्थात् शुभाशुभ विषयों के प्रति रागद्वेष की प्रवृत्ति का त्याग करते हैं, षट्काय जीवों की अपने प्राणों से अधिक सुरक्षा करते हैं और दूसरों के द्वारा कराते हैं । सत्रह भेदों से युक्त संयम की सम्यक् आराधना करते हैं, सभी जीवों के प्रति नित्य दया का भाव रखते हैं, अठारह हजार शीलांग रूप रथ पर आरूढ़ होकर उसे बिना किसी गलती के ठीक रीति से चलाते हैं, नौ प्रकारों की ब्रह्मगुप्ति (ब्रह्मचर्य की बाड़) का पालन करते हैं, बारह प्रकार के तप में अपने पुरुषार्थ की सुगंध फैलाते हैं, आत्मकल्याण को निरंतर अपना लक्ष्य मानते हैं, जनरंजन और लोकपूजन की कामना से पूरी तरह विरक्त रहते हैं, ऐसे साधु पुरुषों को नमस्कार करना सर्वथा समुचित है ।

प्रश्न 99 :– साधुओं का ध्यान किस तरह किया जाए?

उत्तर–साधुओं का ध्यान आषाढ़ मास के मेघों की तरह काले रंग से करना चाहिए ।

प्रश्न 100 :– 'नमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद में **'लोए'** शब्द का प्रयोग किस लिए किया गया हैं?

उत्तर–'लोए' पद मध्यमंगल के लिए है। **'लोकृ दर्शने'** इस धातु से लोक शब्द बना है। सभी दर्शनार्थक धातुएँ ज्ञानार्थक होती हैं और ज्ञान मंगलरूप है। इसलिए मध्यमंगल के उद्देश्य से **'लोए'** पद रखा गया है। **'लोए'** पद का दूसरा भाव यह है–ढाई द्वीप प्रमाण लोक में साधु निवास करते हैं, इन सभी साधुओं को नमस्कार है।

प्रश्न 101 :– 'नमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद में **'सव्व'** पद की क्या आवश्यकता है? **'साहूणं'** बहुवचन में हुआ यह प्रयोग ही सभी साधुओं को बताने वाला है। इसलिए पहले चार पदों में **'सव्व'** पद का प्रयोग नहीं किया गया है।

उत्तर–'सव्व' शब्द के प्रयोग के पीछे कुछ ये कारण हैं–

प्रमत्त–अप्रमत्त, स्थविरकल्पिक–जिनकल्पिक, प्रतिमाकल्पिक, यथालन्दकल्पिक, परिहारविशुद्धिकल्पिक, स्थितकल्पिक, स्थितास्थित-कल्पिक तथा कल्पातीत आदि सभी भेदों के साधुओं का स्पष्ट रीति से ग्रहण हो सके, इसलिए **'सव्वसाहूणं'** पद का प्रयोग किया गया है।

इसके सिवाय **'सव्व'** से प्रत्येकबुद्ध, स्वयं–संबुद्ध तथा बुद्धबोधित आदि भेद वाले भरत, ऐरावत, महाविदेह आदि क्षेत्रों के और सुषमा-दुषमा आदि कालों के सभी साधुओं का ग्रहण हो सकता है।

यदि **'सव्व'** शब्द न रखा होता तो इस प्रकार अप्रमत्तादि और भरत, ऐरावतादि सभी क्षेत्रों के मुनिसमुदाय का स्पष्ट रूप में बोध नहीं हो पाता। यहाँ इतना याद रखना चाहिए कि–**'श्री आचार्य पद और श्री उपाध्यायपद में उन–उन पदों को पाए हुए स्थविरकल्पिक साधुओं का ही समावेश होता है।**

2. 'सव्वसाहूणं' इस प्राकृत पद का अनुवाद संस्कृत में अनेक प्रकार से हो सकता है। **'सव्व'** शब्द न रखा जाए तो उनमें से एक भी अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता है। **'सव्वसाहूणं'** का संस्कृत में अनुवाद **'सार्वसाधूनाम्'** भी हो सकता है। **'सर्वेभ्यो हिताः सर्वाः'** अर्थात् सभी जीवों के लिए हितकारी साधुओं को नमस्कार है।

अथवा

'सर्वैर्नयैर्विशिष्टत्वात् सर्वोऽर्हद्धर्मः तत्र भवोः (तत्स्वीकर्तारः) सार्वाः' अर्थात्, **'सार्व यानी सभी नयों में विशिष्ट जो अर्हद्धर्म'** है, उसको स्वीकार करने वाले सभी साधुओं को नमस्कार हो ।

अथवा

साधनरूपत्वात्सर्वेषु, (शुभेषु योगेषु) ये वर्तन्ते ते सार्वाः अर्हन्तः, तान् दुर्नयनिरासेन साधयन्ति, आराधयन्ति, प्रतिष्ठापयन्ति वेति सार्वसाधवस्तेभ्यो नमः । अर्थात् सभी शुभ योगों को जो सिद्ध करते हैं, वे **'सार्व'** यानी **'अरिहन्त'** कहलाते हैं । ऐसे अरिहंतो की जो साधना करते हैं, अर्थात् आज्ञापालन और दुर्नय के निराकरण द्वारा श्री अरिहंतों की आराधना और प्रतिष्ठापना करते हैं, उन सभी साधुओं को नमस्कार है ।

'सव्वसाहूण' इस प्राकृत पद का संस्कृत में अनुवाद **'श्रव्यसाधुनाम्'** और **'सव्वसाधुनाम्'** भी हो सकता है । इसमें **'श्रव्य'** शब्द का अर्थ श्रवण करने योग्य होता है । अर्थात् श्रवण करने योग्य वाक्यों के संबन्ध में जो साधु (सावधान) हैं, वे **'श्रव्यसाधु'** हैं ।

'सव्य' शब्द का अर्थ दक्षिण अथवा अनुकूल भी होता है । अर्थात मोक्ष के अनुकूल कार्य के बारे में जो निपुण हैं, उन्हें नमस्कार हो ।

3. 'नमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद में **'लोक'** शब्द से ढाई द्वीपवर्ती मनुष्य लोक का ग्रहण होता है । यह लोक ऊर्ध्वभाग में नौ सो योजन और अधोभाग में नौ सो योजन है । अर्थात् कई लब्धिविशिष्ट साधु मेरुपर्वत की चूलिका तक के प्रदेश में तपस्या करते हैं । उनके साथ मनुष्यलोक में जो–जो साधु हैं, उन सबको नमस्कार हो, ऐसा इस शब्द का तात्पर्य है ।

प्रश्न 102 :– यह पंचपरमेष्ठि–नमस्कार संक्षेप से कर्त्तव्य है या विस्तार से? यदि संक्षेप से कर्त्तव्य हो, तो सिर्फ 'साधु' और 'सिद्ध' इन दो पदों को ही नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि अरिहंत, आचार्य और उपाध्याय पद 'साधु' पद में समाविष्ट हैं । अर्थात्

अरिहंतादि तीनों में साधुत्व का त्याग नहीं होता है और यदि नमस्कार विस्तारपूर्वक कर्त्तव्य हो, तो श्री 'ऋषभादि' चौबीस तीर्थंकर, श्री 'पुंडरीकादि' 1452 गणधर आदि प्रत्येक को व्यक्तिशः उच्चारण-पूर्वक ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् पृथक्–पृथक् नाम लेकर सबको नमस्कार करना चाहिए ।

उत्तर–श्री अरिहंत को नमस्कार करने से जिस फल की प्राप्ति होती है, उस फल की प्राप्ति साधुओं को नमस्कार करने से नहीं हो सकती है । जैसे राजा आदि को नमस्कार करने से जो फल प्राप्त होता है वही फल सामान्य मनुष्यादि को नमस्कार करने से प्राप्त नहीं होता । इसलिए फल की विशेषता को ध्यान में रखकर साधुओं को नमस्कार करते हुए भी अरिहंत को पहले नमस्कार करना योग्य है ।

प्रश्न 103 :– प्रथम नमस्कार, जो सब में मुख्य है उसे करना चाहिए । श्री अरिहंतादि पाँचों परमेष्ठियों में सर्वथा कृतकृत्य होने से श्री सिद्ध मुख्य हैं । इसलिए 'यथाप्रधान' न्याय के अनुसार प्रथम श्री सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करना चाहिए और फिर श्री अरिहंतादि को नमस्कार करना चाहिए ।

उत्तर–श्री सिद्धों को जानने का कार्य भी अरिहंतों के उपदेश के सिवाय संभव नहीं है । श्री अरिहंत तीर्थ के प्रवर्तन द्वारा अनेक जीवों पर उपकार करते हैं । इतना ही नहीं, बल्कि सिद्धों की आत्माएँ भी अरिहंतों के उपदेश से ही चारित्र पालनकर, कर्मरहित बनकर सिद्धि गति प्राप्त करती हैं । इसलिए सिद्धों से पहले श्री अरिहंतों को नमस्कार करना उचित है ।

प्रश्न 104 :– यदि उपकार आदि का विचार कर नमस्कार करना हो, तो आचार्य आदि को पहले नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि किसी समय आचार्य आदि से भी अरिहंतादि का ज्ञान होता है । इस प्रकार आचार्यदि भी महाउपकारी होने से, उनको पहले नमस्कार करना चाहिए ।

उत्तर–आचार्यादि को उपदेश देने का सामर्थ्य अरिहंतों के उपदेश से ही प्राप्त होता है, स्वतंत्र रीति से नहीं अर्थात् सभी वस्तुओं के प्रथम परमार्थज्ञापक (परमार्थ का ज्ञान कराने वाले) श्री अरिहंत ही हैं, इसलिए

उन्हीं को सबसे पहले नमस्कार करना चाहिए । सामान्यतः सभा या सभा के सदस्यों को नमस्कार करने के बाद राजा को प्रणाम नहीं किया जाता, बल्कि राजा को प्रणाम करने के बाद ही सभा या परिषद् को प्रणाम करने का रिवाज है । उसी प्रकार यहाँ भी पर्षदा में पंडितों के समाज रूप श्री आचार्य आदि को नमस्कार कर राजारूप अरिहंतों को बाद में नमस्कार करना योग्य नहीं है । राजारूप अरिहंत को नमस्कार करने के बाद ही पर्षदारूप आचार्य आदि को नमस्कार करना युक्तियुक्त है । इस संबन्ध में कहा है कि–

पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्वि एस भवे ।
सिद्धाइआ पढमा, बीआए साहुणो आई ।।1।।
अरहंतुवएसेणं सिद्ध नज्जन्ति तेण अरिहाई ।
नवि कोई परिसाए, पणमित्ता पणमइ रण्णो ।।2।।

प्रश्न 104 :– श्री नमस्कारमंत्र का क्रम पूर्वापूर्वी हो तो सिद्धों को प्रथम नमस्कार करना चाहिए और पश्चानुपूर्वी हो तो साधुओं को प्रथम नमस्कार करना चाहिए ।

उत्तर–श्री अरिहंतों के उपदेश से सिद्धात्माओं का ज्ञान होता है । परिषद् को प्रणाम करने के बाद कोई राजा को प्रणाम नहीं करता, इसलिए राजा के स्थान पर होने वाले श्री अरिहंतों को ही प्रथम नमस्कार योग्य है ।

प्रश्न 105 :– एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।

'इन पाँचों को किया गया नमस्कार सभी पापों का प्रणाश (नाश) करनेवाला है तथा सभी प्रकार के मंगलों में प्रथम मंगल है ।' इन चार पदों में नमस्कार के फल का वर्णन है । क्या इस प्रकार फल के वर्णन को मूल मंत्र कहना योग्य है?

उत्तर–श्री नमस्कार मंत्र के अंतिम चार पद श्री नमस्कारमंत्र की चूलिका हैं । चूलिका को मूलमंत्र से भिन्न गिनना योग्य नहीं है । फल का वर्णन भी नमस्कार का ही वर्णन है । अन्यत्र **'नामस्तवाध्ययन'** आदि में भी फल वर्णन सहित सभी पद अध्ययनरूप माने गए हैं । **'फलप्रधानाः**

समारंभाः' इस न्याय से जिसके फल का ज्ञान नहीं होता, उसकी ओर विद्वान् भी प्रवृत्त नहीं होते हैं। इसलिए चूलिका से रहित श्री नमस्कारमंत्र अपूर्ण और विद्वानों की प्रवृत्ति के लिए अयोग्य है। आगम ग्रंथों में भी चूलिकासहित नवकारमंत्र का महामंत्र के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्न 106 :– किसी भी वर्तमान आगम (शास्त्र) में श्री नमस्कारमंत्र के नौ पद, आठ संपदा और अड़सठ अक्षरों से युक्त नहीं कहा है। लेकिन 'श्री भगवती' आदि सिद्धांत में नमस्कार के पैंतीस अक्षरों से युक्त पाँच ही पद कहे है। इसलिए कई लोग नमस्कार मंत्र को नौ पदात्मक नहीं, बल्कि पाँच पदात्मक मानते हैं। क्या यह योग्य है?

उत्तर–भगवान् श्री वज्रस्वामीजी आदि दशपूर्वधरादि बहुश्रुत, संविज्ञ (ज्ञानी) और सुविहित महर्षियों ने छेदसूत्रादि की व्याख्या के प्रसंग में नमस्कारमंत्र को नौ पद, आठ संपदा और अड़सठ अक्षरों से युक्त बताया है। इसलिए नमस्कारमंत्र को पंचपदात्मक नहीं, बल्कि नौ पदात्मक मानना ही योग्य है।

'श्री महानिशीथ' नामक श्रुतस्कध में पदानुसारी लब्धि के धारक दशपूर्वधर भगवान् श्री **वज्रस्वामीजी** ने पंचमंगल महाश्रुतस्कंध को अड़सठ अक्षरात्मक और नौ पदात्मक बताया है।

'श्री महानिशीथ सूत्र' श्री जिनमत में समस्त प्रवचनों का परम सारभूत, अतिशययुक्त और महान् अर्थों से भरा हुआ है। **'श्री महानिशीथ सूत्र'** भगवान श्री हरिभद्रसूरिजी ने अपनी बुद्धि के अनुसार संशोधित कर लिखा है। श्री सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, यक्षसेन, देवदत्त, रविगुप्त, नेमिचंद्र, जिनदास गणि, सत्यश्री आदि अन्य अनेक युग प्रधान और श्रुतधर सूरिपुंगवों ने उसका बहुत सम्मान किया है इसलिए जिनमत में वह एक परम प्रामाणिक सूत्रग्रंथ है।

प्रश्न 107 :– 'मंगल' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर–'मंगति हितार्थं सर्पतीति मंगलम्' अथवा 'मंगति दुरदृष्टमनेन अस्माद्वेति मंगलम्।' अर्थात् जो सभी प्राणियों के हित के

लिए दौड़ता है अथवा जिससे दुर्भाग्य दूर चला जाता है, वह मंगल कहलाता है । अर्थात् हितार्थ की प्राप्ति और अहितार्थ से निवृत्ति यह मंगल का कार्य है ।

प्रश्न 108 :– 'श्री पंचपरमेष्ठियों को किया गया नमस्कार सभी मंगलों में प्रथम मंगल है ।' इस अर्थ को बतानेवाले पदों का क्या तात्पर्य है?

उत्तर–मंगल दो प्रकार का होता है–द्रव्य या लौकिक मंगल और भाव या लोकोत्तर मंगल । दही, दूर्वा, अक्षत, श्रीफल, चंदन, केशर, कुंकुम आदि लौकिक या द्रव्यमंगल हैं अर्थात् फल देने में एकान्तिक (आवश्यक) या आत्यंतिक (सर्वश्रेष्ठ) नहीं हैं । इसी प्रकार नाममंगल और स्थापनामंगल भी वांछित अर्थ की सिद्धि की दृष्टि से अनेकान्तिक (आवश्यक हो ही ऐसे नहीं) और अनात्यंतिक (अपूर्ण) हैं । इसके विपरीत भाव या लोकोत्तर मंगल सभी अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि से लिए ऐकान्तिक (आवश्यक) और आत्यंतिक (संपूर्ण) है अर्थात् वह सर्वथा और सर्वदा मंगलरूप है । इसीलिए नाम, स्थापना या द्रव्यमंगल की अपेक्षा भावमंगल पूजनीय और प्रधान है । यह भावमंगल तप, जप,यम,नियम आदि अनेक प्रकार से होता है । इन सबसे **'श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार'** यह उत्कृष्ट और सबसे बड़ा मंगल है । इसका कारण यह है कि इसमें जिन परमेष्ठियों को नमस्कार किया जाता है,वे परमेष्ठी परम मंगल,परम लोकोत्तम और परमशरणा-गतवत्सल रूप हैं । इस संबन्ध में शास्त्रों में कहा है कि–

'चत्तारि मंगलं । अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं । केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ।'

'चत्तारि लोगुत्तमा । अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।'

'चत्तारि सरणं पवज्जामि । अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहूसरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।'

अर्थात्, चार वस्तुएँ मंगल रूप हैं–अरिहंत मंगलरूप हैं, सिद्ध

मंगल रूप हैं, साधु मंगल रूप हैं और केवलीकथित (प्रणीत) धर्म मंगलरूप है ।

चार वस्तुएँ लोकोत्तम हैं । –अरिहंत लोकोत्तम हैं, सिद्ध लोकोत्तम हैं, साधु लोकोत्तम हैं और केवलीकथिक धर्म लोकोत्तम है ।

चार वस्तुएँ शरण्य/शरणरूप हैं–अरिहंत शरणरूप हैं, सिद्ध शरणरूप हैं, साधु शरणरूप हैं, और केवलीप्ररुपित धर्म शरणरूप है ।

प्रश्न 109 :– श्री नमस्कार महामंत्र के कितने अक्षर हैं?

उत्तर–श्री नमस्कार महामंत्र के कुल अड़सठ अक्षर हैं । उसमें पहले पाँच पद मूलमंत्र स्वरूप हैं–उसमें व्यंजनसहित लघु अक्षर 32 और गुरु अक्षर 3, कुल 35 अक्षर हैं । अंतिम चार पद चूलिका के हैं–उसमें मूलमंत्र के प्रभाव (फल) का वर्णन है । उसमें व्यंजनसहित 29 लघु अक्षर और 4 गुरु अक्षर कुल 33 अक्षर हैं । इन दोनों के अक्षरों को मिलाने से मंत्र के कुल अक्षरों की संख्या 68 होती है ।

प्रश्न 110 :– कुछ लोग 'हवइ मंगलं' के स्थान पर 'होइ मंगलं' कहते हैं? क्या यह ठीक है?

उत्तर–'हवई' शब्द के स्थान पर **'होइ'** कहने से यद्यपि अर्थ में कोई अंतर नहीं आता है, लेकिन **'होइ'** बोलने से चूलिका के अक्षरों की संख्या 33 के स्थान पर 32 हो जाती है । इससे भी नवकार के कुल 68 अक्षरों की संख्या नहीं मिलती है । **'श्री महानिशीथ'** सूत्र में कहा है कि–

'तहेव इक्कारसपयपरिच्छिन्न–तिआलावग– तित्तीसअक्खर-परिमाणं, एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं तिचूलम् ।'

अर्थात् श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्काररूप मूल मंत्र की चूलिका ग्यारह पद, 33 अक्षरों वाली और तीन आलापों से युक्त है अर्थात् मूलमंत्र के प्रभाव को बताने वाले चार पदों के अक्षर तैंतीस हैं और आलापक तीन हैं ।

'श्री नमस्कारावलिका ग्रंथ में कहा है कि किसी कार्यविशेष के उपस्थित होने पर जब चूलिका के चार पदों का ही ध्यान करना हो, तब बत्तीस पंखुड़ियों के कमल की कल्पना कर एक–एक अक्षर को

एक–एक पंखुड़ी पर स्थापन किया जाए और तैंतीसवें अक्षर को मध्य कर्णिका में स्थापन कर ध्यान करना चाहिए ।'

'होइ मंगलं' यह पाठ यदि माना जाए, तो यह ध्यान कदापि नहीं हो सकता है, क्योंकि अक्षर बत्तीस हो जाते हैं इसलिए **'हवइ मंगलं '**यही शास्त्रसिद्ध पाठ है ।

प्रश्न 111 :– श्री नवकार मंत्र की चूलिका में तैंतीस अक्षर मानने से, क्या छंदोभंग का दोष नहीं आता है?

उत्तर–छंदशास्त्र में बत्तीस अक्षरों की तरह तैंतीस अक्षरों के भी छंद माने गए हैं । श्री आगम/शास्त्र ग्रंथों में तैंतीस अक्षरों के अनेक श्लोक आते हैं । उदाहरण के लिए **'श्री दशवैकालिक सूत्र'** की ये गाथाएँ देखी जा सकती हैं–

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पयं।।
अहं च भोगरायस्स, तं च सि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर।।

आदि ।

प्रश्न 112 :– श्री पंचपरमेष्ठी–नमस्कार मंत्र का 108 बार जाप करना चाहिए, क्योंकि श्री पंचपरमेष्ठियों के गुण 108 हैं, ऐसा कहा जाता है, तो श्री पंचपरमेष्ठियों के ये 108 गुण कौन से और किस तरह हैं?

उत्तर–शास्त्रों में कहा है कि–

बारसगुण अरिहन्ता, सिद्धा अट्ठेव सूरि छत्तीसं ।
उवज्झाया पणवीसं, साहू सत्तवीस अट्ठसयं।।

अर्थ :– अरिहंतों के गुण 12, सिद्धों के 8, आचार्यों के 36, उपाध्यायों के 25 और साधुओं के 27, इस प्रकार पाँचों परमेष्ठियों के गुण कुल मिलाकर 12 + 8 + 36 + 25 +27 = 108 (एक सौ आठ) हैं ।

इन एक सौ आठ गुणों का विस्तृत वर्णन **'श्री नवकारपद आराधन विधि'** आदि पुस्तकों में अनेक बार आया है, इसलिए विस्तारभय से उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है ।

प्रश्न 113 :– 'नमस्कार' का शब्दार्थ क्या है?

उत्तर–'नमस्कारो नतिकरणमुच्यते । तत्तु करशिरः संयोगादिस्वापकर्षबोधक व्यापारविशेषः ।'

अर्थात् नमन करने की क्रिया का नाम नमस्कार है । इसके द्वारा नमस्कार्य के सामने अपनी हीनता–न्यूनता–नम्रता प्रकट की जाती है । इस नम्रता प्रकट करने की क्रिया को नमस्कार कहते हैं अर्थात् हाथ, पाँव और मस्तक आदि मस्तक आदि के संयोग द्वारा अपनी हीनदशा को प्रकट करनेवाला व्यापार क्रिया नमस्कार है ।

प्रश्न 114 :– श्री नवकारमंत्र में 'अरिहंताणं नमो', इत्यादि पाठ न रख कर 'नमो अरिहंताणं' इत्यादि पाठ क्यों रखा है? पहले नमस्कार्य का प्रतिपादन कर फिर 'नमः' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों में देखा जाता है ।

उत्तर–'न' कार अक्षर ज्ञान का वाचक है । ज्ञान मंगलरूप है, इसलिए आदि मंगल के हेतुभूत **'न'** कार को प्रारंभ में रखा हैं । जगत् कल्याणकारी होने वाले प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन करते समय आदि, मध्य और अंत में मंगल करना चाहिए, यही आप्तकथन है । इस प्रकार त्रिविध मंगल करने से पठक, पाठक और चिंतक इन सबका सदैव मंगल होता है तथा प्रतिपाद्य विषय की बाधारहित समाप्ति होती है और उसकी प्रवृत्ति बराबर चलती है । **'न'** कार द्वारा जैसे आदि मंगल किया गया है, वैसे ही **'लोए'** पद द्वारा मध्यमंगल किया गया है और **'मंगलं'** इस पद द्वारा अंतिम मंगल किया गया है ।

प्रश्न 115 :– प्रधानता के अनुसार नमस्कार मंत्र में पाँचों पदों में ज्येष्ठानुज्येष्ठ क्रम रखा गया है, उसे जरा विस्तार से समझाए ।

उत्तर–अरिहंतों के उपदेश से सिद्धों का ज्ञान होता है और भव्यात्माएँ चारित्र का आदर कर कर्मरहित होकर सिद्ध पद प्राप्त करती हैं । आचार्यो को उपदेश देने का सामर्थ्य भी अरिहंतों के उपदेश से प्राप्त होता है, इसलिए अरिहंत प्रथम क्रम पर हैं । कृतकृत्यता की अपेक्षा से सर्वथा कृतकृत्य होने से सिद्ध दूसरे स्थान पर हैं । आचार्यो

से शिक्षा प्राप्त कर उपाध्याय स्वकर्त्तव्य का पालन करते हैं, इसलिए आचार्य का क्रम तीसरा है । साधुजन आचार्यों और उपाध्यायों से दशविध यतिधर्म का ज्ञान प्राप्त कर स्वकर्त्तव्यपालन करते हैं, इसलिए भी उपाध्याय चौथे और साधु पाँचवे क्रम पर हैं । इस प्रकार अरिहंत आदि पाँचो उत्तर–उत्तर की अपेक्षा पूर्व–पूर्व की प्रधानता द्वारा ज्येष्ठानुज्येष्ठ क्रम को स्वीकार कर पहले अरिहंतों को, फिर सिद्धों को, फिर आचार्यों को, फिर उपाध्यायों को और अंत में भी साधुओं को नमस्कार किया गया है ।

प्रश्न 116 :– कई लोग 'हवइ मंगलं' के स्थान पर 'होइ मंगलं' कहते हैं, तो क्या यह बराबर है ?

उत्तर :– **'हवइ'** शब्द के स्थान पर **'होइ'** कहने से यद्यपि अर्थ में कोई भेद नहीं होता है, फिर भी **'होइ'** शब्द बोलने से चूलिका के 33 वर्ण के बदले 32 वर्ण हो जाते हैं, जिससे नवकार के 68 अक्षर में मेल नहीं खाएगा ।

श्री **'नमस्कारावलिका'** ग्रंथ में कहा है–किसी कार्य विशेष की उपस्थिति में मात्र चूलिका के चार पदों का ध्यान करने का होता है । बत्तीस पंखुडी वाले कमल की कल्पना कर, उसकी एक-एक पंखुड़ी में एक-एक अक्षर की स्थापना करनी चाहिये और तैंतीसवें अक्षर को मध्य कर्णिका में स्थापित कर ध्यान करना चाहिये ।

अतः **'हवइ'** के बदले **'होइ'** माना जाय तो यह ध्यान सम्भव नहीं है । इस कारण **'हवइ मंगलं'** पाठ शास्त्रसिद्ध है ।

प्रश्न 117 :– श्री नवकार मंत्र की चूलिका में 33 अक्षर मानने से छन्दोभंग दोष नहीं आता है ?

उत्तर :– बत्तीस अक्षर की तरह 33 वर्ण वाले श्लोक भी छन्दशास्त्र में माने गए हैं । श्री आगम-ग्रन्थ में तैंतीस वर्ण के श्लोक भी आते हैं । उदाहरण के लिए दशवैकालिक सूत्र में नीचे की गाथा में 33 अक्षर हैं–

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पयं ।।

प्रश्न 118 :– पंचपरमेष्ठी के 108 गुण कैसे ?

उत्तर :– शास्त्र में कहा है–

बारसगुण अरिहंता, सिद्धा अट्ठेव सूरि छत्तीसं ।
उवज्झाया पणवीसं, साहू सत्तवीश अट्ठसयं ।।

श्री अरिहन्त परमात्मा के 12 गुण हैं, श्री सिद्ध भगवन्त के 8 गुण हैं, श्री आचार्य भगवन्त के 36 गुण हैं, श्री उपाध्याय भगवन्त के 25 गुण हैं और साधु भगवन्त के 27 गुण हैं, इन पाँचों परमेष्ठियों के कुल गुण 108 हैं ।

प्रश्न 119 :– नमस्कार का शब्दार्थ क्या है ?

उत्तर :– 'नमस्कारो नतिकरणमुच्यते । तत्तु करशिरः संयोगादि-स्वापकर्षबोधकव्यापारविशेषः ।'

नमन क्रिया का नाम नमस्कार है । इसके द्वारा नमस्कार्य के प्रति अपनी हीनता / लघुता / नम्रता प्रगट की जाती है । नम्रता प्रगट करने की इस क्रिया को नमस्कार कहते हैं । अर्थात् हाथ, पैर और मस्तकादि संयोग द्वारा अपनी न्यूनता प्रगट करने का व्यापार नमस्कार है ।

प्रश्न 120 :– 'श्री नवकार मन्त्र में 'अरिहंताणं नमो' इत्यादि पाठ न होकर 'नमो अरिहंताणं' इत्यादि पाठ क्यों रखा गया है ? प्रथम नमस्कार्य का प्रतिपादन कर, बाद में 'नमः' का प्रयोग अनेक स्थलों में देखने में आता है ।'

उत्तर :– **'न'** कार अक्षर ज्ञानवाचक है और ज्ञान मंगल रूप है । अतः मंगल में हेतुभूत **'न'** कार को आदि में रखा गया है । जगत् कल्याणकारी प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन करते समय आदि, मध्य और अन्त में मंगल करना चाहिये । इस प्रकार त्रिविध मंगल करने से पठक / पाठक / और चिन्तक का सदैव मंगल होता है तथा प्रतिपाद्य विषय का निर्विघ्न समाप्ति होकर सदैव उसकी प्रवृत्ति चालू रहती है । **'न'**कार के द्वारा आदि मंगल, **'लोए'** पद द्वारा मध्य मंगल और **'मंगल'** पद द्वारा अन्तिम मंगल किया गया है ।

प्रश्न 121 :– 'नमो अरिहंताणं' पद से अष्ट महाप्रातिहार्यादि बारह गुणों से युक्त श्री तीर्थंकर परमात्मा का ग्रहण होता है, तो फिर तीर्थंकर के सिवाय श्री केवलज्ञानी महर्षियों का ग्रहण किस पद से होगा ?

उत्तर :– सामान्य केवलज्ञानी का ग्रहण **'नमो लोए सव्वसाहूणं'** पद से हो जाता है । इस पद में **'लोए'** और **'सव्व'** शब्द लोक में रहे समस्त मुनियों के संग्रह के लिए है । उसमें केवलज्ञानी, परमावधिज्ञानी, विपुलमति, ऋजुमति, चतुर्दश पूर्वधर जिनकल्पी, क्षीरास्रवी, मध्यास्रवी, सर्पिरास्रवी, संभिन्नस्तोतृ आदि लब्धिधारक, कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारीलब्धि, चारणलब्धि, वैक्रियलब्धि आदि के धारक समस्त मुनिवरों का संग्रह हो जाता है ।

प्रश्न 122 :– अर्हद् आदि पाँच नमस्कार्य परमेष्ठियों में प्रत्येक के साथ नमो पद क्यों रखा गया है ? एक बार 'नमो' पद का कथन करने के बाद शेष पदों में अध्याहार से ले सकते हैं ।

उत्तर :– श्री नमस्कार महामंत्र को गिनने की पद्धति तीन प्रकार की है–पूर्वानुपूर्वी, अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी । इन तीनों प्रकार से नवकार का जाप हो सकता है ।

पूर्वानुपूर्वी से गिनने पर तो प्रथम पद के **'नमो'** पद का प्रयोग शेष पदों में अध्याहार से आ सकता है, परन्तु पश्चानुपूर्वी और अनानुपूर्वी से गिनते समय **'नमो'** पद का अन्वय शेष नमस्कार्य पदों के भंगों के साथ नहीं हो सकता है, इस कारण पाँचों पदों से साथ **'नमो'** पद का प्रयोग करना जरूरी है ।

प्रश्न 123 :– नमस्कार मंत्र को तीन प्रकार से गिनने की रीति कौन सी है ?

उत्तर :– क्रम से पदों का गुणन करना पूर्वानुपूर्वी कहलाता है, जैसे- 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, और 9 । उत्क्रम से नवकार के पदों का गुणन करना पश्चानुपूर्वी कहलाता है, जैसे–9, 8, 7, 6, 5, 4, 3, 2 और 1 तथा क्रम व उत्क्रम को छोड़कर अन्य सब भंगों से होती गुणनक्रिया का नाम

अनानुपूर्वी है । जैसे– 4, 3, 6, 2, 1, 7, 8, 5 और 9 इत्यादि । नवकार के नवपद की पूर्वानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी का एक-एक भंग है और अनानुपूर्वी के 362878 भंग हैं । इस प्रकार कुल 362880 भंग होते हैं । इन सब भंगों से नमस्कार महामंत्र का गुणन कर सकते हैं ।

प्रश्न 124 :– 'एसो पंचनमुक्कारो' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर :– 'एसो पंचनमुक्कारो' तत्पुरुष समास है, किन्तु द्विगु / समाहार द्वंद्व समास नहीं है ।

'पञ्चानां सम्बन्धे, पञ्चभ्यो वा नमस्कार इति पञ्चनमस्कारः ।'
अर्थ–पाँचों को किया गया नमस्कार ।

उसके बाद **'ये पाँच नमस्कार'** अर्थ किया जाय तो समाहार द्विगु/द्वंद्व समास हो जाता है और उस अवस्था में द्विगु समास का प्रयोग स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग में करना चाहिये । जैसे–त्रिलोकी, त्रिभुवनम्, पञ्चपात्रम् इत्यादि । किन्तु यहाँ पुलिंग का निर्देश होने से तत्पुरुष समास समझना चाहिये ।

प्रश्न 125 :– उक्त पद में 'पञ्च' शब्द का प्रयोग निरर्थक है, क्योंकि 'एसो नमुक्कारो' कहने से भी 'पाँचों को नमस्कार' अर्थबोध हो सकता है ।

उत्तर :– 'पञ्च' शब्द का प्रयोग स्पष्टता के लिए है । दूसरा कारण यह भी है कि एसो शब्द **'एतद्'** सर्वनाम का रूप है और **'एतद्'** शब्द आसन्नवर्ती पदार्थ का वाचक है ।

'पञ्च' शब्द का प्रयोग करने में न आए तो समीपतरवर्ती साधु को ही नमस्कार की सम्भावना रहती, जबकि **'पञ्च'** शब्द के प्रयोग से निर्भ्रांततया पाँचों के नमस्कार की सम्भावना हो सकती है ।

प्रश्न 126 :– नवकार मंत्र के आठवें और नौवें पद में कहा है कि 'सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है ।' अतः अर्थापति प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि 'नमस्कार सर्व पाप का नाशक है', क्योंकि सर्व पाप का नाश हुए बिना मंगल हो नहीं सकता है, अतः सातवें 'सव्वपावप्पणासणो' पद का प्रयोग निरर्थक है ?

उत्तर :– 'सर्व पाप का नाश होता है' यह बात अर्थापत्ति प्रमाण से समझ सकते हैं, फिर भी पाप का समूल क्षय होता है या आंशिक ? इस बात की स्पष्टता नहीं हो पाती है ।

नाश तीन प्रकार का होता है–क्षय, उपशम और क्षयोपशम । इसमें समूल नाश को क्षय कहते हैं ।

श्रीनंदीसूत्र में कहा है–**'क्षयो निर्मूलमपगमः'** अर्थात् निर्मूल नाश का नाम क्षय है कि जिसके होने के बाद पाप का पुनः उद्‌गम नहीं होता है ।

शांतावस्था को उपशम कहते हैं । **'अनुदकावस्थोपशमः'** अग्नि के अंगारे को राख से दबा देने जैसी शांतावस्था है । राख हट जाने पर वही अग्नि, वायुसंसर्ग से प्रबल बनकर दहन करने का कार्य करती है, वैसी ही यह उपशम अवस्था है ।

जिसमें वस्तु के एक देश (भाग) का क्षय (निर्मूल नाश) और दूसरे देश की उपशमावस्था हो, उसे क्षयोपशम कहते हैं । इस अवस्था में भी यदि कारण-सामग्री मिल जाय तो पुनः पाप की वृद्धि हो सकती है ।

नमस्कार समस्त पापों का उपशम या क्षयोपशम नहीं करता है, बल्कि निर्मूल नाश/क्षय करता है, जिससे पापों का पुनः कभी उद्‌भव न हो ।

प्रश्न 127 :– 'एसो पंच नमुक्कारो' इस पद के स्थान पर अनेक लोग 'एसो पंच नमोक्कारो' पद बोलते हैं, तो इसमें कौन–सा पद सत्य मानना चाहिए?

उत्तर :– संस्कृत में **'नमस्कार'** शब्द है । उसके प्राकृत में दो रूप बनते हैं– 1. नमोक्कार, 2. नमुक्कार । ये दोनों रूप ठीक हैं । दोनों रूप व्याकरण के नियम से सिद्ध हैं फिर भी पाठभेद न हो, इसलिए **'एसो पंच नमुक्कारो'** यह पाठ बोलना ही उचित है । मंत्राक्षरों के उच्चारण में बार–बार पाठभेद करना ठीक नहीं है ।

प्रश्न 128 :– 'नमो अरिहंताणं' पद में अष्टमहाप्रातिहार्यादि बारह गुणों से युक्त श्री तीर्थंकर देवों को ग्रहण किया जाता है, तो फिर तीर्थंकर देवों के अतिरिक्त अन्य केवलज्ञानी महर्षियों को किस पद से ग्रहण करना चाहिए?

उत्तर :– सामान्य केवलज्ञानियों का ग्रहण **'नमो लोए सव्वसाहूणं'** पद से हो जाता है । इस पद में **'लोए'** और **'सव्व'** ये दो शब्द लोक में होने वाले सभी प्रकार के मुनिवरों के समावेश के लिए प्रयुक्त हुए हैं । उनमें केवलज्ञानी, परमावधिज्ञानी, विपुलमति, ऋजुमति, मनः पर्यायज्ञानी; चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशांगधारक , जिनकल्पधारक, क्षीरस्त्रवी, मध्वास्त्रवी, सर्पिरास्त्रवी, संभिन्नस्त्रोत्र आदि लब्धियों के धारक, कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी लब्धि, चारणलब्धि आदि लब्धियों को धारण करने वाले सभी मुनिवरों का समावेश होता है । इससे उनके लिए अलग पद की आवश्यकता नहीं है ।

प्रश्न 129 :– अर्हदादि पाँच नमस्कार्य परमेष्ठियों में प्रत्येक के साथ 'नमो' पद रखा गया है, उसके स्थान पर प्रारंभ में एक ही बार 'नमो' पद का कथन किया जाए तो शेष पदों में 'नमो' पद अध्याहार रह सकता है, फिर प्रत्येक बार 'नमो' पद का करने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर :– श्री नमस्कार मंत्र को गिनने के तीन प्रकार की रीतियाँ है–पूर्वानुपूर्वी, अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी । इन तीन रीतियों से नवकार का जाप हो सकता है । इनमें से पूर्वानुपूर्वी से गिनते समय प्रथम पद **'नमस्'** शब्द शेष चारों पदों में अध्याहार से आ सकता है, लेकिन अनानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी से गिनते समय प्रारंभिक **'नमः'** पद का अन्वय पाँचों नमस्कार्यो के साथ प्रत्येक खंड में नहीं हो सकता है । इसलिए पाँचों पदों में **'नमः'** शब्द का प्रयोग करना आवश्यक है ।

प्रश्न 130 :– नमस्कार मंत्र गिनने की तीन रीतियाँ बताई, उसका क्या अर्थ है?

उत्तर :– क्रम से पदों को गिनना पूर्वानुपूर्वी रीति है; जैसे1-2-3- 4-5-6-7-8-9। उत्क्रम से अर्थात् उलटे पदों से गिनना पश्चानुपूर्वी रीति है; जैसे 9-8-7-6-5-4-3-2-1। क्रम और उत्क्रम को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की गिनने की क्रिया अनानुपूर्वी रीति है–जैस 6-7-8-5-9-3-4-1-2 आदि । नो पदों की पूर्वानुपूर्वी का एक प्रकार है, पश्चानुपूर्वी का

एक प्रकार है तो अनानुपूर्वी के तीन लाख, बासठ हजार, आठ सौ अठहत्तर (362878) प्रकार है । इस प्रकार नमस्कार को गिनने के कुल प्रकार 362880 हो जाते हैं । कितने पदों के कितने भंग होते हैं, उसे निश्चित करने के लिए गणित की रीति इस प्रकार है–जितने पद हैं, उनको परस्पर गुनना चाहिए । जैसे पाँच पद हों–तो भंग 1 x 2 x 3 x 4 x 5 = 120 होंगे । छः पद हों तो भंग प्रकार 120 x 6 = 720 होंगे । इस प्रकार जितने पद होंगे, उनका परस्पर गुनाकार करने से जो संख्या आएगी, उतने भंग होंगे । उनमें पहले और अंतिम अर्थात् पूर्वानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी के दो भंग छोड़कर बाकी सारे भंग अनानुपूर्वी के होते हैं ।

प्रश्न 131 :– 'एसो पंच नमुक्कारो' इस पद का अर्थ क्या है ?

उत्तर :– 'एसो पंच नमुक्कारो' यह तत्पुरुष समास है । यह द्विगु या समाहार द्वंद समास नहीं है । **पंचानाम् संबंधे, पञ्चभ्यो वा नमस्कारः इति पंच नमस्कारः ।** अर्थात् पाँचों को किया हुआ नमस्कार यह अर्थ होता है । इसके स्थान पर **'ये पाँच नमस्कार'** ऐसा अर्थ किया जाए, तो वह समाहार द्वंद्व/द्विगु बन जाएगा । इस अवस्था में द्विगु समास का प्रयोग स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग में करना चाहिए । जैसे–त्रिलोकी, त्रिभुवनम्, पंचपात्रम् आदि । लेकिन यहाँ तो पुल्लिंग का निर्देश है । इसलिए इसे तत्पुरुष समास समझकर **'इन पाँचों को किया गया नमस्कार'** ऐसा अर्थ करना चाहिए ।

प्रश्न 132 :– उक्त पद में 'पंच' शब्द का प्रयोग निरर्थक है, क्योंकि 'एसो नमुक्कारो' कहने से भी 'पाँचों को किया गया नमस्कार' इस अर्थ का बोध होता है ।

उत्तर :– 'पंच' शब्द का प्रयोग स्पष्टता के लिए है । दूसरा कारण यह भी है कि **'एसो'** यह एतद् सर्वनाम का रूप है । तथा **'एतद्'** शब्द प्रत्यक्ष और आसन्नवर्ती निकट होने वाले पदार्थ का वाचक है । कहा भी है कि–

'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदोरूपम् ।'

इसलिए यदि **'पंच'** शब्द का प्रयोग न किया होता तो उसमें सबसे निकट होने वाले **'साधु का ही नमस्कार'** यह संभावना हो

सकती थी । लेकिन **'पंच'** शब्द के प्रयोग से बिना किसी भ्रम के पाँचों को ही नमस्कार की संभावना सिद्ध होती है ।

प्रश्न 133 :– सातवाँ पद 'सव्वपावप्पणासणो' यह है, तो इस पद के कथन की क्या आवश्यकता थी? आठवें और नौवें पदों में तो कहा गया है कि ये पाँच नमस्कार सभी मंगलों में प्रथम मंगल हैं । इससे अर्थापत्ति प्रमाण से यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि 'नमस्कार सभी पापों का नाशक है', क्योंकि सभी पापों का नाश हुए बिना मंगल हो ही नहीं सकता है इसलिए सातवें पद का प्रयोग निरर्थक लगता है ।

उत्तर :– अर्थापत्ति प्रमाण से **'सर्व पापों का नाश होता है'** यह बात समझ में आ सकती थी, लेकिन इन पापों का समूल नाश होता है या आंशिक नाश होता है, यह बात निश्चित नहीं हो सकती थी । नाश तीन प्रकार से होता है–क्षय, उपशम और क्षयोपशम । इसमें समूल नाश को **'क्षय'** कहा जाता है ।

श्री नंदीसूत्र में कहा है कि **'क्षयो निर्मूलमपगमः ।'** अर्थात् निर्मूल/समूल नाश का नाम क्षय है । ऐसा होने से पाप का फिर से उद्‌गम नहीं होता है ।

उपशम शांतावस्था को कहा जाता है । जैसे, **'अनुद्रे-कावस्थो-पशमः।'** अग्नि के अंगारों को राख से दबा देने जैसी शांतावस्था है । राख के हट जाने पर वही अग्नि वायु–संसर्ग आदि से प्रबल होकर दहन करने का कार्य कर सकती है, उसके अनुसार उपशम अवस्था को समझना चाहिए ।

जब वस्तु के एक भाग का क्षय (निर्मूल नाश) होता है और अन्य भागों की उपशमावस्था होती है, तो वह क्षयोपशम है । इस अवस्था में कारण–सामग्री मिल जाए तो फिर पाप की वृद्धि होती है ।

इसलिए सातवें पद का कथन करने का प्रयोजन यह है कि नमस्कार समस्त पापों का उपशम या क्षयोपशम नहीं करता, बल्कि **'प्पणासणो'** अर्थात् निर्मूल नाश करता है, जिससे इन पापों का फिर से कभी उद्‌भव न हो सके ।

प्रश्न 134 :– 'सव्वपावप्पणासणो' इस पद में 'सव्व' शब्द का प्रयोग न किया जाए, तो भी 'पापानि प्रणश्यति' इस व्युत्पत्ति से 'सभी पापों का समूल नाश करनेवाला है' यह अर्थ सिद्ध हो सकता है । फिर 'सव्व' शब्द की क्या आवश्यकता है?

उत्तर :– यहाँ भी **'सव्व'** शब्द स्पष्टता के लिए है । व्युत्पत्ति द्वारा होनेवाले अर्थ का ज्ञान **विद्वद्गम्य** है । इतना ही नहीं, बल्कि **'पापं प्रणाशयति इति पापप्रणाशनः'** ऐसी व्युत्पति भी हो सकती है । ऐसी स्थिति में एक पाप का नाश करता है, कुछ पापों का नाश कराता है या सभी पापों का नाश करता है–यह शंका बनी रहती है । यह शंका खड़ी ही न रहे, इसलिए तथा सामान्यजनों की बुद्धि के लिए गम्य हो, इसलिए **'सव्व'** शब्द का प्रयोग परमावश्यक है ।

प्रश्न 135 :– आठवें पद में 'सव्वेसिं' पद का प्रयोग निरर्थक है । नौवें पद में मंगलाणं इस बहुवचनान्त पद से 'सर्व' शब्द को समझा जा सकता है ।

उत्तर :– जगत् हितकारी विषय का सबको सुखपूर्वक और भ्रमरहित बोध हो इसलिए यहाँ भी **'सव्वेसिं'** पद की आवश्यकता है । दूसरा कारण यह भी है कि लोक में मंगलों की संख्या एक नहीं, बल्कि अनेक है । उनमें से कितने ही मंगलों का बोध कराने के लिए भी **'मंगलाणं'** यह बहुवचनान्त पद प्रयुक्त हो सकता है । इसलिए कुछ मंगल नहीं, बल्कि सभी मंगलों का ग्रहण हो, इसलिए विशेष रूप से **'सव्वेसिं'** शब्द का प्रयोग करना अत्यंत आवश्यक है ।

प्रश्न 136 :– आठवें पद का कथन किए बिना ही यदि नौवें पद का कथन किया जाए तो भी (नौवें पद में आई हुई प्रथमत्व की अन्यथा सिद्धि से ही) अर्थापत्ति प्रमाण से आठवें पद की प्रतीति हो सकती है । जैसे, 'प्रथम मंगल है' का अर्थ ही 'सभी मंगलों में प्रथम मंगल है' यह होता है ।

उत्तर :– अर्थापत्ति प्रमाण से अर्थ की प्रतीति सिर्फ विद्वानों को ही हो सकती है । सामान्यजनों को उक्त अर्थ की प्रतीति कराने के लिए आठवें पद की परम आवश्यकता है । दूसरा कारण यह है कि आठवें पद

का कथन किए बिना ही यदि **'पढमं हवइ मंगलं'** कहा जाए तो व्याकरणादि ग्रंथों के अनुसार प्रथम शब्द क्रियाविशेषण भी बन जाता है और उसका अर्थ यह भी होता है कि यह पंचनमस्कार **'प्रथम अर्थात् पूर्वकाल में (किंतु उत्तरकाल में नहीं) मंगलरूप है'** इस अनिष्ट अर्थ की संभावना होने से पंचनमस्कार का सार्वकालिक मंगलरूपत्व असिद्ध न बन जाए, इसलिए इस आठवें पद की आवश्यकता है ।

प्रश्न 137 :– नौवें पद में–'पढमं हवइ मंगलं' इस पद में 'प्रथम' शब्द का प्रयोग किया, उसके स्थान पर उत्तम, उत्कृष्ट, प्रधान आदि शब्दों में से किसी भी शब्द का प्रयोग किया जाता तो क्या हर्ज था?

उत्तर :– **'उत्तर'** आदि शब्दों का प्रयोग न कर **'प्रथम'** शब्द का प्रयोग किया गया, उसका कारण यह है कि **'प्रथम'** शब्द **'पृथु विस्तारे'** इस धातु से बना हुआ है । उससे यह ध्वनि निकलती है कि यह पंच नमस्कार सभी मंगलों में उत्तम मंगल है, इतना ही नहीं, बल्कि वह मंगल प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होकर विस्तीर्ण होता रहे अर्थात् उसमें कभी भी ह्रास (न्यूनता) नहीं होती, बल्कि वृद्धि ही होती है । यदि **'प्रथम'** शब्द के प्रयोग के बदले **'उत्तमादि'** शब्दों में से किसी शब्द का प्रयोग किया जाय, तो यह ध्वनि निकल नहीं सकती थी ।

प्रश्न 138 :– नौवें पद में 'हवइ' क्रिया का प्रयोग न किया होता, तो भी अध्याहार से 'हवइ' क्रिया का अर्थ जाना जा सकता था । वाक्यों में प्रायः 'अस्ति', 'भवति' आदि क्रियाओं का अध्याहार होने पर भी उसका अर्थ जाना जा सकता है ।

उत्तर :– अध्याहार से अर्थ तो जाना जा सकता है, फिर भी **'हवइ'** इस क्रिया के प्रयोग का प्रयोजन यह है कि उक्त मंगल की होने की क्रिया, अर्थात् सत्ता, निरंतर विद्यमान रहती है । तात्पर्य यह है कि पंच नमस्कार सभी मंगलों में वृद्धिंगत होने वाला उत्कृष्ट मंगल है और यह मंगल निरंतर विद्यमान रहता है । यदि **'हवइ'** क्रिया का प्रयोग न किया जाता, तो ऐसा अर्थ निकलना कभी संभव न होता ।

प्रश्न 139 :– नौवें पद के अंत में 'मंगलं' इस पद का प्रयोग न किया जाता, तो भी 'मंगलं' पद का अध्याहार हो सकता था, अर्थात् (यह पंच नमस्कार) 'सभी मंगलों में प्रथम है' ऐसा कहने से 'प्रथम मंगल है' यह बात सिद्ध हो सकती थी । जैसे, 'कवीनां कालिदासः श्रेष्ठ' आदि वाक्यों में 'कवि' आदि शब्दों का प्रयोग न करने पर भी उसके अर्थ की अनायास प्रतीति हो सकती है ।

उत्तर–'मंगलं' इस पद का प्रयोग किए बिना भी उसके अर्थ की प्रतीति हो सकती थी । फिर भी हम पहले कह आए हैं कि जगत् कल्याणकारी प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन में आदि, मध्य और अंत्य मंगल करना यह आप्तनिर्दिष्ट है । ऐसा करने से अध्ययन करने वाला, अध्यापन करनेवाला और चिंतन करनेवाला इन सबका सदैव मंगल होता है तथा प्रतिपाद्य विषय की निर्विघ्न समाप्ति होकर उसका प्रचार चलता रहता है । इसीलिए यहाँ अंतिम मंगल करने के लिए मंगलार्थ वाचक **'मंगलं'** शब्द का प्रत्यक्ष प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न 140 :– कोप व प्रसाद से रहित अरिहंत या सिद्ध पूजा का फल देने वाले नहीं हैं, क्योंकि जो पूजा का फल देनेवाले होते हैं, वे हरदम राजा आदि की तरह कोप व प्रसाद सहित ही देखे जाते हैं ।

उत्तर :– अरिहंत अथवा सिद्ध पूजा का फल देते हैं, ऐसा हम कहते ही नहीं हैं । सभी जीवों को स्वर्ग–नरक अथवा सुख–दुःख आदि का फल अपने किए हुए पुण्य या पाप के बल से ही मिलते हैं । पुण्य–पाप या धर्म–अधर्म ये ज्ञान आदि की तरह आत्मा के गुण हैं, ये गुण किसी को दिए जाने या किसी से लेने की बात संभव नहीं है । आत्मगुण भी यदि दिये या लिये जा सकते हों तो कृतनाश, अकृतागम, सांकर्य, एकत्व आदि अनेक दोष आकर खड़े हो जाते हैं । इसलिए नमस्कार का मुख्य फल अव्याबाध सुखरूप मोक्ष है और स्वर्ग आदि उसके आनुषंगिक फल हैं । उसमें मोक्ष रूप मुख्य फल चैतन्य आदि भावों की तरह आत्मपर्याय रूप होने से किसी को दिये जा सकें या किसी से लिये जा सके ऐसा संभव नहीं है ।

प्रश्न 141 :– मुख्य फलरूप मोक्ष भले ही आत्मपर्याय होने से लिया–दिया नहीं जा सकता हो, लेकिन सुंदर भक्त–पान आदि और मनोहर अर्थ–काम आदि तो दूसरे को दिये जा सकने या दूसरे से लिये जा सकने योग्य हैं, तो उन्हें अरिहंत या सिद्ध किस प्रकार देते है?

उत्तर :– अर्थ–काम आदि अथवा भक्त–पान आदि दूसरे को दिये जाने योग्य हैं, लेकिन पूजा का प्रयत्न भक्त–पान आदि के लिए नहीं होता, बल्कि मोक्षप्राप्ति के लिए ही होता है । अथवा भक्त–पान आदि जो भी प्राप्त होते हैं, वे स्वकृत कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं । दूसरा दाता तो इसमें निमित्त मात्र होता है ।

निश्चय रूप से न कोई किसी का दाता है, न अपहरण कर्ता है । सुख–दुःख आदि का अंतरंग हेतु कर्म ही है । शरीर बाह्य हेतु है, शब्दादि विषय तो उससे भी अधिक बाह्य हेतु हैं और उन्हें देने–लेने वाले अर्थात् दाता–अपहर्तादि तो अतिशय बाह्यतर हेतु हैं । इसलिए यह निश्चित है कि कर्म के सिवाय सुख–दुःख के जो निमित्त माने गए हैं, वे तो कर्म के कारण ही सिर्फ व्यवहार से माने गए हैं तो फिर राग–द्वेष रहित सिद्धात्माएँ नमस्कार के फल को देने वाली होती हैं, यह कहा ही कैसे जा सकता है?

प्रश्न 142 :– यदि सर्व शुभाशुभ फल स्वकृत कर्मजनित ही हैं, तो दान–अपहरणादि का फल दाता–हर्ता को नहीं मिलना चाहिए ।

उत्तर :– कर्म स्वकृत होता है, इसलिए उसका फल दाता–हर्ता को मिलता है । दान देते समय परानुग्रह परिणाम और हरण करते समय परोपघात आदि परिणाम ये ही पुण्य–पाप के कारण बनते हैं । ये पुण्य–पाप बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखते हैं । किन्तु आत्मा में बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखकर भी रहते हैं । कालान्तर में वे बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखकर ही शुभाशुभ फल देते हैं । इसलिए वह फल परकृत कहलाता है । वस्तुतः स्वकृत कर्म के बिना दूसके से वह प्राप्त नहीं होता है ।

फिर यदि वह फल दूसरे से प्राप्त होने योग्य है, ऐसा माना जाए, तो जिसने ग्रहण या हरण किया, उसे मोक्ष या कुगति मिलेगी ।

उस समय वह फल किससे प्राप्त होगा? अर्थात् यहाँ कृत नाश दोष आकर खड़ा होगा। जिसे जो दिया गया है, उसे वह देना चाहिए और जिसका हरण किया गया है वह उसका हरण करे, यह मान्यता अयोग्य है, युक्तिसंगत नहीं है। ऐसा माना जाए तो फिर दान आदि न देनेवाले साधु को जन्मातंर में भूखा रहना पड़ेगा और यदि खुद को ही भूखा रहना पड़ता है, तो पूर्वजन्म में देनेवाले दाता को वह कहाँ से दे सकेगा? उसी प्रकार पूर्व जन्म में किसी का धन आदि हरण कर वर्तमान जन्म में निर्धन हुई आत्मा धनरहित होने से पूर्वभव के धनवान द्वारा उससे किस प्रकार हरण करा सकेगी?

प्रश्न 143 :– तो क्या अन्य–अन्य जन्मों के दानहरणादि से सब कुछ हो जाएगा?

उत्तर :– यह कहना भी गलत है। ऐसा मानने से अनवस्था और स्वर्ग–मुक्ति आदि फलों का अभाव हो जाएगा?

वस्तुतः दान देनेवाली या लेनेवाली आत्मा अपने अनुग्रह–उपघात रूपी परिणाम से जैसे स्वयं फल पाती है, वैसे यहाँ भी सिद्धों तथा अरिहंतों की पूजा का फल पूजक को अपने परिणामों से स्वयं प्राप्त होता है। जिननमस्कार और जिनपूजा परिणाम की विशुद्धि का हेतु होने से दानादि धर्मों की तरह निरंतर करने योग्य है, अथवा जिननमस्कार और जिनपूजा मोक्षमार्ग की प्रभावक होने से धर्मकथन की तरह हरदम करने योग्य है।

कोप–प्रसाद रहित वस्तु फलदायक नहीं होती यह कहना भी सत्य नहीं है। अन्न, पान आदि वस्तुएँ कोपप्रसाद रहित होने पर भी प्रत्यक्षतः फलदायक दिखाई देती हैं। अमृत–विष, कनक–पत्थर, मणि–काँच आदि वस्तुएँ भी कोपादि रहित हैं, फिर भी वे अनुग्रह और उपघात के लिए होती हैं।

प्रश्न 144 :– कोप आदि हरण–प्रदान आदि के निमित्त हैं या नहीं ?

उत्तर :– निमित्त होते हुए भी वे बाह्य कारण हैं। अंतरंग कारण

तो स्वकृत पुण्य, पाप आदि के सिवाय कुछ नहीं है । राजा आदि का कोप और प्रसन्नता भी स्वकृत पुण्य–पाप के ही फल हैं, क्योंकि क्रुद्ध या प्रसन्न हुआ राजा भी सभी लोगों के लिए समान फल देने वाला नहीं होता है । कभी वह विषम फल देने वाला होता है, तो कभी निष्फल भी जाता है ।

इसीलिए अरिहंतादि को किया गया नमस्कार या अरिहंतादि की पूजा किसी को प्रसन्न करने के लिए नहीं, बल्कि पूजक के चित्त की प्रसन्नता के लिए होती है । दूसरा प्रसन्न होगा तो धर्म होगा और दूसरा क्रुद्ध होगा तो अधर्म होगा, ऐसा नियम नहीं है । धर्म–अधर्म जीव के शुभाशुभ परिणाम का अनुसरण करनेवाला होता है । अरिहंतादि का आलंबन शुभ परिणाम का जनक है, शुभ परिणाम से धर्म होता है और धर्म से भक्त–पान, अर्थ–काम, स्वर्ग–अपवर्ग आदि फलों की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न 145 :– धर्म–अधर्म दूसरों की प्रसन्नता या क्रोध का अनुसरण करनेवाले नहीं हैं, यह बात सत्य न हो, तो जगत् में दूसरों को प्रसन्न करने के लिए जो प्रयत्न किए जाते हैं, वे क्यों?

उत्तर :– जगत् में सुखी होने के लिए दूसरों की प्रसन्नता आदि को आधार बनाया जाता है । लेकिन वह अनेकांतिक है । इतना ही नहीं, बल्कि वह स्वकृत पुण्य–पाप के अनुसार ही फल देनेवाला होता है । अगर यह न माना जाए, और दूसरों के कोप–प्रसाद पर ही धर्म–अधर्म मान लिया जाए, तो राग–द्वेषादि मुनि की स्तुति आदि करने से पुण्यात्मा के लिए धर्म नहीं होगा और आक्रोशादि करने से दुष्टात्मा के लिए अधर्म नहीं होगा । कारण यह है कि राग–द्वेषरहित मुनि को न स्तुति सुनने से प्रसन्नता होती है, न आक्रोश सुनने से क्रोध आता है ।

फिर हिंसा, झूठ, चोरी, परदारागमन आदि कार्यों का कोई चित्त में ही चिंतन करे, तो उसे उसका खराब फल नहीं मिलना चाहिए । उसी प्रकार दया, दान, ब्रह्मचर्यादि धर्म करने की इच्छा जिसके मन में होगी, उसे उसका शुभ फल भी नहीं मिलना चाहिए । कारण, शुभ

या अशुभ कार्यों का चित्त में सिर्फ चिंतन करने से, जिन–जिन व्यक्तियों के बारे में शुभ या अशुभ चिंतन हुआ हो, उन व्यक्तियों को न क्रोध आता है, न प्रसन्नता होती है।

लेकिन हिंसा आदि का चिंतन करनेवाले को अधर्म और दया आदि का चिंतन करनेवाले को धर्म होता ही है, इसलिए परप्रसाद या परकोप से ही धर्म–अधर्म होता है, यह मानना ठीक नहीं है, किंतु स्वप्रसाद और स्वकोप से ही धर्म–अधर्म होता है, यह मानना युक्त है।

ऐसा न माना जाए तो एक तीसरा दोष आता है। परप्रसाद या परकोप से ही धर्म–अधर्म होता हो, तो दया, दान, ब्रह्मचर्य आदि धर्मकृत्य करनेवालों पर भी दुर्जन आत्माएँ कोप करती हैं, इसलिए उनका धर्म निष्फल जाना चाहिए।

उसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी आदि अधर्म कार्य करनेवालों को देख कर भी उसी प्रकार की आत्माओं को आनंद मिलता है, तो उनके आनंद से उन्हें अधर्म नहीं होना चाहिए, बल्कि धर्म होना चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि यदि दूसरों के कोप से अधर्म होता हो, तो मोक्ष पाई हुई आत्माओं का भी किसी के कोप से पतन हो जाना चाहिए और यदि ऐसा हो जाए तो अकृतागम, कृतनाश आदि असाधरण दोष सामने आएंगे।

इन कारणों का विचार करते हुए धर्मार्थी आत्माओं को अपनी प्रसन्नता–स्वप्रसाद के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। यह स्वप्रसाद अरिहंत और सिद्ध आदि की पूजा से अवश्य प्राप्त होता है। स्वप्रसाद का फल अप्रमेय होता है, इसलिए उसे पाने की दृष्टि से अरिहंत आदि की पूजा का प्रयत्न परम आवश्यक है।

प्रश्न 146 :– अरिहंत परमात्मा और सिद्ध परमात्मा वीतराग और कृतार्थ होने से उनकी पूजा उचित है, लेकिन शेष आचार्यादि तीन(आचार्य, उपाध्याय, साधु) तो राग–द्वेष सहित और अकृतार्थ हैं, इससे उनकी पूजा या उनको किया गया नमस्कार स्वप्रसाद या मोक्ष के लिए कैसे होगा? धन का इच्छुक निर्धन की सेवा करे तो वह कैसे फलेगा?

उत्तर :– वीतराग जैसे राग–द्वेष रहित हैं, वैसे आचार्य आदि भी विद्यमान कषायों पर नियंत्रण करनेवाले हैं, इसलिए वे भी वीतराग के समान हैं । वीतराग जैसे कृतकृत्य होते हैं, वैसे आचार्य आदि भी बहुत अंश में कृतकृत्य होते हैं । इसलिए उनकी पूजा भी वीतराग–पूजा की तरह चित्त की प्रसन्नता का कारण है ।

पूजा का आरंभ दूसरे के उपकार के लिए नहीं होता है और दूसरे के उपकार से पूजा का फल भी नहीं मिलता है, बल्कि वह स्वप्रसाद से ही मिलता है । आचार्य आदि किंचित् अकृतार्थ होते हुए भी, स्वप्रसाद अर्थात् स्वपरिणाम की विशुद्धि के लिए होते हैं, इसलिए वे भी वीतराग की तरह पूज्य हैं ।

प्रश्न 147 :– पूज्य पर उपकार का अभाव होते हुए भी पूज्य की पूजा फलदायी कैसे होती है?

उत्तर :– पूज्य पर उपकार का अभाव होने पर भी अरिहंत आदि की पूजा ब्रह्मचर्यादि के समान शुभ क्रिया और शुभ परिणाम की वृद्धि का हेतु है, इसलिए वह फलदायी है । पर हृदयगत मैत्री तद्विषयक जीवों का क्या उपकार करती है और दूरस्थ आत्माओं के बारे में हुआ हिंसा आदि का संकल्प दूर रहनेवाली आत्मा पर क्या अपकार कर सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं । फिर भी वह उपकार–अपकार रहित मैत्री, हिंसा आदि का संकल्प धर्म–अधर्म का कारण बनता ही है । उसी प्रकार पूजा आदि का संकल्प भी अरिहंत आदि का उपकार करने वाला न होने पर भी धर्म का कारण बनता है ।

प्रश्न 148 :– साधु आदि को जो दान दिया जाता है, उससे जो स्वपर दोनों का उपकार होता है, वैसा उपकार श्री जिनपूजा आदि से नहीं होता है । फिर भी जिनपूजा की अपेक्षा साधु आदि को किए दान से अधिक फल की प्राप्ति क्यों नहीं होती?

उत्तर :– साधु आदि को दिए दान में दानकृत उपकार–अपकार से फल की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि परानुग्रह संकल्प मात्र से दाता को

फल की प्राप्ति होती है । अन्यथा साधु आदि को भोजन कराने के बाद अजीर्ण आदि से उसकी मृत्यु हो, तो उसका दोष भी दाता को लगना चाहिए ।

पूज्य द्वारा पूजा का ग्रहण होने पर ही धर्म होगा ऐसा नियम नहीं है, पूज्य की पूजा से होने वाली परिणाम विशुद्धि से धर्म होता है । पूजा का ग्रहण न हो, तो भी यह विशुद्धि अवश्य होती है, अथवा जिन आदि की की गई पूजा ग्रहण भी वे करते हैं, क्योंकि संप्रदान तीन प्रकार से होता है, अतः ग्रहण भी तीन प्रकार से होता है । प्रेरक, अनुमोदक और अनिषेधक ये तीनों अलग–अलग दृष्टि से दान को ग्रहण करनेवाले होते हैं, इसलिए जिन आदि अनिषेधक होने से उनकी पूजा का अग्रहण ही होता है, ऐसा नहीं है । अथवा जिनादि की पूजा से श्रद्धा, संवेग और परिणाम की विशुद्धि होती हो, तो वह पूजा परिगृहीत है या अपरिगृहीत है, यह चर्चा ही अनावश्यक बन जाती है ।

प्रश्न 149 :– सिद्ध आदि की पूजा का फल नहीं हो सकता, क्योंकि वे अमूर्त हैं, नेत्रों से नहीं देखे जा सकते तो फिर उनकी पूजा कैसे हो सकती है?

उत्तर :– सिद्ध परमात्मा मूर्तिरहित–अमूर्त हैं, इसीलिए वे विशेष रूप से पूज्य हैं । जैसे रत्नत्रयी अमूर्त है, फिर भी वह मोक्षमार्ग बन सकती है, उसी प्रकार सिद्ध परमात्माओं की पूजा आत्मा के लिए परम उपकारक होती है । मूर्तिमान की मूर्ति की पूजा नहीं होती, बल्कि उसके अमूर्त गुणों की ही पूजा होती है । श्री सिद्ध भगवंतों के गुण तो विशेष रूप से अमूर्त हैं, इसलिए वे विशेष रूप से पूज्य हैं ।

प्रश्न 150 :– मूर्तिमान के गुणों की पूजा तद्गुणसंबन्ध के कारण मूर्तिपूजा से हो सकती है, फिर सिद्ध परमात्माओं के गुणों की पूजा कैसे होगी? उनकी तो कोई मूर्ति नहीं होती है ?

उत्तर :– पूजा, मूर्ति अथवा गुणों से जो फल मिलता है, उसमें स्वगतपरिणाम की विशुद्धि को छोड़कर अन्य कोई हेतु नहीं होता है । बाह्य अरिहंत आदि आलंबनों के निमित्त से स्वहृदयगत जो शुभ परिणाम

उत्पन्न होता है, वही सब फल देता है । इस परिणाम का संबंध मूर्ति के साथ नहीं, बल्कि अपनी आत्मा के साथ है, अतः मूर्त–अमूर्त की चिंता निरर्थक है ।

प्रश्न 151 :– सिद्ध परमात्मा अत्यंत दूर हैं, फिर उनकी पूजा कैसे फलदायी हो सकती है?

उत्तर :– जैसे दूर रहने वाले बंधुजनों को सुखी अथवा दुःखी जानकर आनंद और शोक आदि संकल्प से देहपुष्टि और देहदौर्बल्य आदि फल मिलता है, वैसे दूर रहे सिद्धात्माएँ भी विशुद्ध परिणाम से धर्म के लिए और अशुद्ध परिणाम से अधर्म के लिए होती हैं । आलंबन निकट हो या दूर, उससे फल में कोई भेद नहीं पड़ता है । अथवा तद्गुण बहुमान रूपी शुभ परिणाम आत्मस्वभावरूप होने से निकट ही हैं और उनसे अन्य जो कोई वस्तुएँ हैं, वे अनात्मरूप होने से दूर ही हैं ।

प्रश्न 152 :– जब स्वपरिणाम से ही धर्म–अधर्म होता है, तब फिर अरिहंत आदि बाह्य आलंबनों की क्या आवश्यकता है?

उत्तर :– शुभ–अशुभ परिणाम बाह्य आलंबन से ही होते हैं । शुभ–अशुभ परिणाम चित्त का धर्म है, इसलिए वह विज्ञान की तरह हरदम बाह्य आलंबनों से ही होता है, इसलिए मोक्षमार्ग में बाह्य शुभ आलंबनों की परम आवश्यकता होती है ।

प्रश्न 153 :– चाहे जैसे आलंबन से भी जिसे शुभ परिणाम मिल सकता है, उसे शुभ और अशुभ आलंबन जैसे भेद करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर :– जैसे आलंबन के बिना शुभ परिणाम नहीं होता, वैसे विपरीत आलंबन से प्रायः शुभ परिणाम नहीं होता है । अन्यथा, नील आदि का शुक्ल आदि रूप में ज्ञान होना चाहिए ।

प्रश्न 154 :– अज्ञानी और निःशील आत्मा को शुभ आलंबन रूप मुनिपने से भी शुभ परिणाम नहीं होता और अशुभ आलंबन रूप नास्तिकपने से भी उन्हें शुभ परिणाम होता जान पड़ता है, तो फिर शुभ–अशुभ आलंबनों का विचार करने से क्या लाभ?

उत्तर :– अशुभ आलंबन से शुभ परिणाम और शुभ आलंबन से अशुभ परिणाम किसी विरल आत्मा को होता है । अतः यहाँ उसकी गिनती नहीं की गई है । अथवा, निःशील आत्मा को अशुभ आलंबन से होनेवाला शुभ परिणाम उन्मत्त आत्मा के परिणाम की तरह शुभ परिणाम ही नहीं है, क्योंकि वह विपर्यास से ग्रस्त है ।

प्रश्न 155 :– मुनिवेश में होने वाले निःशील मुनि को दान देने वाला दाता जैसे स्वर्गादिफल पाता है, वैसे कुलिंगी को दान देने वाले दाता को मुनिदान का फल क्यों नहीं मिलता है?

उत्तर :– मुनिलिंग यह गुणों का स्थान है । इसलिए वह गुणों से रहित हो, तो भी जब तक गुण रहित ज्ञात न हो, तब तक वह प्रतिमा की तरह पूज्य है । कुलिंग तो दोषों का आश्रय–स्थान होने से भी पूजा योग्य नहीं है ।

प्रश्न 156 :– कुलिंग में भी यदि केवलज्ञान होता है, तो उसे दोष का आश्रयस्थान कैसे कहें?

उत्तर :– केवलज्ञान भावलिंग से होता है, कुलिंग से नहीं होता । मुनिलिंग तो भावलिंग की तरह केवलज्ञान का अंग है, इसलिए पूज्य है ।

शुभ आलंबन रूप अरिहंत तथा सिद्ध आदि की पूजा और नमस्कार उपर्युक्त कारणों से परिणाम विशुद्धि के प्रबल हेतु हैं । इसलिए उन्हें निरंतर करना चाहिए । अथवा अरिहंत आदि की पूजा भव्यात्माओं के लिए बोधिबीज का निमित्त होती है, इसलिए वह अवश्य आदरणीय है ।

8 उपधान तप की आवश्यकता

श्री नमस्कार मंत्र एक महाश्रुतस्कंध है । किसी भी श्रुत/ शास्त्र की योग्यता काल, विनय आदि श्रुत के आचारों को संभालने से ही प्राप्त होती है । योग्य समय में, विनय–बहुमानपूर्वक गुरु से छिपाए बिना सूत्र, अर्थ आदि की शुद्धिपूर्वक पठन किया हुआ हो, तो भी उस के योग्य उपधान न किया जाए तो वह संपूर्ण फल देनेवाला नहीं होता । इसलिए श्रुताचार के संपूर्ण पालनार्थ **'नमस्कार मंत्र'** का उपधान तप कराया जाता है ।

उपधान तप का विधान

'जिससे श्रुतज्ञान की पुष्टि हो, वह उपधान तप है ।' अथवा **'गुरु से नवकार आदि सूत्रों को धारण करने की क्रिया उपधान तप है'** यह उपधान किए बिना नमस्कार मंत्र का किया गया पठन अविधिपूर्वक होता है ।

श्रावकों को सभी सूत्र उपधान तप की आराधना के साथ सीखने चाहिए । इस बात पर **श्री महानिशीथ सूत्र** में बहुत भार दिया गया है । जैसे साधुओं के लिए योगोद्वहन के बिना सिद्धांतों का अध्ययन निषिद्ध है, वैसे श्रावकों के लिए भी उपधान तप के बिना नमस्कारादि सूत्रों का पठन या गिनना भी निषिद्ध है । श्री महानिशीथ सूत्र में इस संबंध में बताया गया है कि

''से भयवं सुदुक्करं पंचमंगलमहासुअखंधस्स विणओवहाणं पन्नत्तं, एसा निअंतणा कहं बालेहि किज्जइ ? गोयमा ! जेणं केणइ न इच्छेज्जा एवं नियंतणं, अविणओवहाणेण पंचमंगलसुअनाणमहिज्जइ, अज्झावेइ वा, अज्झावयमाणस्य वाअणुन्नं पयाइ, से णं न भवेज्जा पिअधम्मे, न हवेज्जा दढधम्मे, न हवेज्जा भत्तिजुए, हीलिज्जा, सुत्तं, हीलिज्जा अत्थं, हीलिज्जा सुत्तत्थोभए, हिलिज्जा, गुरुं जंणं हीलिज्जा सुत्तं, जाव हीलिज्जा गुरुं से णं आसाएज्जा

अतीताणागयवट्टमाणं तित्थयरे, आसाएज्जा आयरिअ उवज्झाय-साहुणो, जेणं आसाएज्जा सुअनाणमरिहंत-सिद्धसाहू, तस्स णं अणंत-संसारिसागरमाहिंडेमाणस्स तासु तासु संवुडविअडासु चुलसीइ-लक्खपरिसंकडासु सीओसिणमि-स्सजोणिसु सुइरं निअंतणा इति ।''

प्रश्न–हे भगवान्! श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का उपधान तप अत्यंत दुष्कर बताया गया है । बाल आत्माएँ इस नियंत्रण को कैसे उठा सकती हैं?

उत्तर–है गौतम!जो कोई आत्मा इस नियंत्रण की इच्छा न रखें और उपधान किए बिना श्री पंचमंगल श्रुतज्ञान को पढ़े पढ़ाए या पढ़ने की अनुमोदना करे वह आत्मा प्रियधर्मी नहीं है, दृढ़धर्मी नहीं है, भक्तियुक्त नहीं है, सूत्र का अपमान (विडंबना) करनेवाली है, अर्थ का अपमान करनेवाली है, सूत्र–अर्थ दोनों का अपमान करनेवाली है और गुरु का भी अपमान करनेवाली है । सूत्र–अर्थ और यहाँ तक कि गुरु का भी अपमान करने वाली आत्मा वर्तमान, भूत और भविष्यकालीन तीर्थंकरों की आशातना करनेवाली है । वह आत्मा आचार्य–उपाध्याय और साधुओं का अपमान करनेवाली है, वह श्रुतज्ञान, अरिहंत, सिद्ध और साधु का अपमान करनेवाली है । अंनत संसार–सागर में भटकते हुए उसे संवृत, विवृत, परिसंवृत, शीत, उष्ण, मिश्र आदि चौरासी लाख योनियों में दीर्घकाल तक नियंत्रण सहन करने पड़ते हैं ।

उपधान को न माननेवाला आज्ञाविराधक

उपधान वहन करने से पहले जिन्होंने नमस्कार आदि सूत्रों का अध्ययन कर लिया है, उन्हें भी योग्य संयोग प्राप्त कर उपधान कर लेना चाहिए । सांप्रत समय में अशठ पूर्वाचार्यों की आचरणा से (जो श्री जिन की आज्ञासमान है) द्रव्य–श्रेत्र–काल आदि की अपेक्षा से लाभालाभ का विचार कर जो उपधान तप बिना भी श्री नमस्कारादि सत्रों का अध्ययन कराते हैं, और उपधान तप के प्रति श्रद्धा का भाव धारण नहीं करते, और शक्ति होते हुए भी, संयोग मिलने पर भी उसका आचरण करने में रुचि नहीं रखते हैं, वे श्री जिनाज्ञा के विराधक हैं ।

जीवन का एक अपूर्व लाभ

उपधान तप करने से श्री जिनाज्ञा के पालन का अपूर्व लाभ मिलता है, इतना ही नहीं, बल्कि अन्य भी अनेक प्रकार के लाभ होते हें। मुक्ति के उद्देश्य से या जिनाज्ञा का पालन करने के विशुद्ध उद्देश्य से आराधना करनेवालों के लिए ये लाभ अनुभवसिद्ध हैं।

उपधान तप के दिनों में निरंतर तप के कारण अति चिकने कर्मों का भी शोषण होता है, असारभूत शरीर में से अमूल्य सारग्रहण होता है, श्रुत की अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है। रोज पौषध करना होने से मुनिपने से तुलना होती है, इंद्रियों का निरोध होता है, कषायों का संवर होता है। पूरा दिन संवर की क्रियाओं में ही व्यतीत होता है। देववंदन से प्रभु–भक्ति और गुरुवंदन से गुरु की भक्ति होती है। जीवन में अभक्ष्य–भक्षण और रात्रि–भोजन का त्याग आसान बन जाता है। इस प्रकार के अनेक लाभों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

गृहस्थ जीवन में उपधान तप उच्च कोटि की एक धर्मक्रिया है और उसकी आराधना करना श्रावक–जीवन का एक बहुत बड़ा, अपूर्व और अमूल्य लाभ है।

श्री नमस्कार सूत्र के अध्ययन की योग्यता प्राप्त करने के लिए 16 दिनों में बारह उपवास (पाँच उपवास, आठ आयंबिल, तीन उपवास) इतना तप करने की प्राचीन विधि थी। लेकिन वह तप अत्यंत कठिन पड़ता है, इसलिए पूर्वाचार्यों ने वर्तमान समय में 18 दिनों तक एक के बाद एक इस क्रम से उपवास और एकाशना (नीवी) करने की विधि रखी है। कुल तप साढ़े बारह उपवास का होता है। शास्त्रीय मर्यादा यह है कि श्री नवकार मंत्र के पठन की योग्यता प्राप्त करने के लिए कम–से–कम अठारह दिनों में साढ़े बारह उपवास का तप गुरु के सानिध्य में दिन–रात पौषध में रहकर करना चाहिए। इस संबंध में प्राचीनतम उल्लेख **श्री महानिशीथ सूत्र** में मिलता है। वह नीचे दिया जाता है।

''से भयवं! कयराए विहीए पंचमंगलस्सणं विणओवहाणं कायव्वं? गोयमा ! इमाए विहीए पंचमंगलस्स णं विणओवहाणं कायव्वं । तं जहा-सुपसत्थे चेव सोहणे तिहिकरणमुहुत्तनक्खत्तजोगल-ग्गससिबले विप्पमुक्कजायाइमयासंकेण संजायसद्धासंवेगसुति-व्वतरमहतुल्ल-संतसुहज्झवसायाणु-गयभत्तिबहुमाणपुव्वं निन्नियाणदुवालसभत्तट्ठिएणं चेइयालए जंतुविरहिओगासे भत्तिब्भरनिब्भररोमंचियफु-ल्लवयणुवसंत पसंतसोमथि-रदिट्ठिणवणवसंवेगसमुछलंत संजाय-बहलघणणिरंत-रआचिंतपरमसु ह-परिणामाविसे सु ल्लासियसजी वारियाणु समयविवड्ढंततपोमयसुविसुद्ध-सुनिम्मल-थिरद्ढयरंतकरणेणं खितिणिहियजाणुसि-अउत्तमं ग. ।– करकमलउ-लसोहं तंजलिपुडेणं सिरिउसभाइपवरवर-धम्मतित्थयरपडि-माबिंबणिवेसियणयणमाण सेगग्गतग्गयज्झवसाएणं समयन्नदिट्ठचारित्ता-इगुणसंपयोववे-अगुरुसद्दत्था (संदिट्ठा) णुट्ठाणकर-णेक्कबद्धलक्खेण,

तथाहि–गुरुवयण–विणिग्गयं विणयाइबहुमाणपरिओसाणु क्कमोवलद्धं अणेगसोगसं–तावुव्वेगमहावाहि –वेअणाघोरदुक्खदारिद्द-किलेसरोगसंजोग-जरामरणगब्भनिवासाइ ददुट्ठसावगागाहभीमभवोद-हितरंडगभूयं इणमो सयलागममज्झवत्तगस्स,मिच्छत्तदोसोवहयबुद्धिप-रिकप्पियकुभणियअधडमाण असेसहेउदिट्ठं तजुत्तिविद्धंसणिक्क पच्चलस्स पंचमंगलमहासुअक्खंधस्स पंचज्झयणेगचूलापरिक्खित्तस्स, पवरपवयणदेवयाहिट्ठिअस्स, तिपदपिरिच्छिन्नेगालावरसत्तक्खरपरि-माणं अणंतगम–पज्जवत्थपसाहगं सव्वमहामंतपवरविज्जाणं परमबीअभुअं ''नमो अरिहंताणं'' ति पढमज्झयणं अहिज्झेयव्वं

तद्दिअहे अ आयंबिलेण पारेअव्वं, तहेव बिइअदिणे अणेगाइसयगुण-संपओववेयं अणंतरभणिअत्थपसाहगं अणंतरुत्तेणेव कमेण दुपयपरिच्छिन्नेगा-लावग पंचक्खकरपरिमाणं 'नमो सिद्धाणं' ति बीयमज्झयणं अहिज्झेयव्वं, तद्दिअहे अ आयंबिलेणं पारेयव्वं,

तहेव तइयदिणे अणेगाइसयसगुणसंपओववेयं अणंतरभणिअ-

त्थपसाहगं अणंतरुत्तेणेव कमेण तिपदपरिच्छिन्नेगालावगं सत्तक्खर-परिमाणं 'नमो आयरियाणं' ति तइयमज्झयणं आयबिलेणं अहिज्झेयव्वं,

तहेव अणंतरुत्तमत्थपसाहगं तिपयपरिच्छिन्नेगालावगं सत्तक्खरपरिमाणं 'नमो उवज्झायाणं' ति चउत्थमज्झयणं अहिज्झेयव्वं तद्दिअहे य आयंबिलेणं पारेयव्वं,

एंवं 'नमो लोए सव्वसाहूणं' ति पंचमज्झयणं पंचमदिणे आयंबिलेण। तहेव तयत्थाणुगामियं एक्कारसपयपरिछिन्नं तिआलावगतितीसक्खर– परिमाणं 'एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपाव-प्पणासणो। मंगलाणं सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं। ति चूलंति,

छट्ठसत्तट्ठमदिणे तेणेव कमविभागेणं आयंबिलेहिं अहिज्झेयव्वं। एवमेव पंचमंगलमहासुअक्खंधं सरवन्नपयक्खर–बिन्दुमत्ताविसुद्धं गुरुगुणोववेयं गुरूवइट्ठं कसिणमहिज्झिताणं तहाकायव्वं, जहापुव्वाणुपुव्वीए पच्छाणुपुव्वीए अणाणुपुव्वीए जीहाग्गे तरिज्जा,

तओ तेणेवाणंतरभणियतिहि करणमुहुत्तणक्खत्तजोगलग्ग-ससिबलजंतुविरहिओगासे चेइआलगाइकमेणं अट्ठमभत्तेणं समणुजाणाविऊण गोयमा! महया पंबंधेण सुपरिफुडं निउणं असंदिद्धं सुत्तत्थं अणेगहा सोऊण धारेयव्वं। एयाए विहीए पंच मंगलस्स णं गोयमा! विणओवहाणं कायव्वं।' इत्यादि श्री महानिशीथ–पंचमाध्ययने पदानुसारिलब्धिमता श्री वज्रस्वामिना लिखितम् ।

प्रश्न 157 :– हे भगवन् ! श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का विनयपूर्वक उपधान तप किस प्रकार की विधि से करना चाहिए?

उत्तर–हे गौतम! श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का विनयपूर्वक उपधान तप नीचे बताई गई विधि के अनुसार करना चाहिए ।

अत्यंत श्रेष्ठ और सुंदर तिथि–करण–मुहूर्त–नक्षत्र–योग–लग्न–चंद्रबल जब हो तब जातिमदादि दोष से रहित होकर, श्रद्धा और संवेग (आतुरता) से अति तीव्रतर महा उल्लसित और शुभ अध्यवसाय युक्त होकर, भक्ति और बहुमानपूर्वक इहलोक–परलोक के सुखों के बारे में नियाणा (इच्छा) रखे बिना पाँच उपवास करके, जिन मंदिर में

जंतुरहित स्थान पर भक्ति के आवेश से परिपूर्ण और रोमांचित शरीर वाला होकर, प्रसन्नमुख, शांत, उपशांत, सौम्य और स्थिर दृष्टि वाला बनकर, नए–नए संवेगरस से उछलने वाले और उत्पन्न हुए अचिन्त्य परमशुभ परिणाम विशेष से उल्लसित जीव वीर्ययुक्त और उससे प्रतिक्षण बढ़ने वाले प्रमोद से सुविशुद्ध, सुनिर्मल, स्थिरतर और दृढ़तर अंतःकरण वाला होकर, पृथ्वी पर अपने दोनों घुटने टेक तथा मस्तक पर करकमलों का अंजलिपुट रखकर और श्री ऋषभादि प्रवरधर्म–तीर्थकरों की प्रतिमाओं पर अपनी आँखे और मन पूरी तरह लगाकर, एकाग्रता से तद्गत अध्यवसाययुक्त बनकर, शास्त्रोक्त चारित्रादि गुणसंपदाओं से युक्त गुरुनिर्दिष्ट अनुष्ठान करने के लिए अपना ध्यान/मन एकाग्र कर,

जैसे–गुरु के मुख से निकले हुए, विनय–बहुमान–परितोषादि के क्रम से प्राप्त, शोक, संताप, उद्वेग, महाव्याधि–वेदना, घोर दुःख, दारिद्र्य, क्लेश, रोग, संयोग, जरा–मरण और गर्भ में निवास आदि रूप दुष्ट, श्वापदों से युक्त अगाध, भीम भवसागर के लिए नौकातुल्य, सभी आगमों वाला, मिथ्यात्वदोष से घायल बुद्धि वाले जीवों से परिकल्पित, कुवचन और अयुक्त हेतु दृष्टांतों और युक्तियों का विध्वंस करने के लिए अत्यंत समर्थ, पाँच अध्ययन और एक चूलिका परिमाण, प्रवरप्रवचन देवता द्वारा अधिष्ठित पंचमंगल महाश्रुतरकंध है, उसका पहला अध्ययन (पद)–**`नमो अरिहंताणं', ** जो तीन पद, एक आलापक और सात अक्षरों से युक्त है, अनंत गम, पर्यव और अर्थों का प्रसाधक है, सभी महामंत्रों और प्रवर विद्याओं का परम बीजभूत है, उसको पढ़ना चाहिए और उस दिन आयंबिल से पारणा चाहिए ।

उसी प्रकार दूसरे दिन अनेक अतिशयों और गुणसंपदाओं से युक्त, अन्यत्र कहे हुए अर्थ का प्रसाधक, अन्यत्र कहे क्रम से ही दो पद, एक आलापक और पाँच अक्षरों के परिमाण का **`नमो सिद्धाणं'** यह दूसरा अध्ययन (पद) आयंबिल तप के साथ पढ़ना चाहिए ।

इसी प्रकार तीसरे दिन अनेक अतिशय और गुणों की संपदाओं से युक्त अनंतर कथित अर्थ को सिद्ध करने वाला, अनंतर कथित क्रम

से तीन पद एक आलापक और सात अक्षर के परिमाणवाला **'नमो आयरियाणं'** यह तीसरा अध्ययन आयंबिल तप के साथ पढ़ना चाहिए ।

उसी तरह अन्यत्र कहे हुए अर्थ को साधनेवाला, तीन पद, एक आलापक और सात अक्षरों के परिमाण का **'नमो उवज्झायाणं'** यह चौथा अध्ययन (पद) चौथे दिन पढ़ना चाहिए और उस दिन आयंबिल करना चाहिए ।

उसी तरह से तीन पद, एक आलापक और नौ अक्षरों के परिमाण का **'नमो लोए सव्वसाहूणं'** यह पाँचवाँ अध्ययन (पद) पाँचवें दिन आयंबिल के साथ पढ़ना चाहिए ।

उसी प्रकार से उस अर्थ का अनुसरण करनेवाले ग्यारह पद, तीन आलापकों और तैंतीस अक्षरों के परिमाण की **'एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो । मंगलाणं त सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।'** यह चूलिका छठे, सातवें और आठवें दिन उसी क्रम विभाग से आयंबिल के साथ पढ़नी चाहिए ।

इस प्रकार पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का स्वर, वर्ण, पद, अक्षर, मात्रा तथा बिन्दुओं के साथ शुद्ध रूप में बड़े गुणों से युक्त गुरु उपदेश के अनुसार, संपूर्ण रूप में अध्ययन इस प्रकार करना चाहिए कि जिससे पूर्वानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी और अनानुपूर्वी द्वारा जीभ के अग्र भाग पर बैठ जाए, पूर्ण कठंस्थ हो जाए ।

उसके बाद अन्यत्र ऊपर बताई गई तिथि–करण–मुहूर्त–नक्षत्र –योग–लग्न–चंद्रबल हो, उस समय जंतु विरहित स्थल पर, चैत्यालयादि के क्रम से, अट्ठमभक्त (तीन उपवास) कर, सम्यक् प्रकार से अनुज्ञा पाकर, बड़े प्रबंध से, सुपरिस्फुट, निपुण और असंदिग्ध रूप में सूत्र तथा अर्थ को है गौतम! अनेक प्रकार से संभल कर धारण करना चाहिए । हे गौतम! इस विधि से पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का विनय के साथ उपधान करना चाहिए ।

(पदानुसारिलब्धि प्राप्त अंतिम दशपूर्वी श्री वज्रस्वामी जी द्वारा लिखित **'श्रीमहानिशीथ सूत्र'** के पंचम अध्ययन के अंतर्गत आलापक का हिंदी–रूपांतर)

उपदेशक तथा उत्तरसाधक

सामान्य मंत्र–तंत्रादि को सिद्ध करने के लिए भी उन मंत्रों के कल्पों के अनुसार तप, जप, क्रिया, आसन आदि करने पड़ते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि घोर उपसर्गादि भी सहने पड़ते हैं और तभी वे सिद्ध होते हैं । तो फिर इस जन्म और जन्मान्तर में अपूर्व लाभ देनेवाले श्री नमस्कार जैसे सूत्र सिद्ध करने के लिए कठोर तपश्चर्या आदि का जो विधान किया गया है, वह किसी भी तरह से अघटित नहीं है ।

मंत्रादि की सिद्धि में उपदेशक और उत्तरसाधकों की सहायता की जैसे आवश्यकता होती है, वैसे यहाँ भी उपदेशक के स्थान पर योग्यताप्राप्त गुरु और उत्तरसाधक की जगह पर उस तप की आराधना करने–कराने के लिए उपयुक्त हुए साधर्मिक बंधु होते हैं । उनकी सहायता से ही उपधान जैसा महान् तप विघ्नरहित सिद्ध होता है ।

9 प्रतिक्रमण

प्रश्न 158 :– प्रतिक्रमण सूत्र के रचयिता कौन ?

उत्तर :– प्रतिक्रमण सूत्र सामायिक से लगाकर बिन्दुसार पर्यन्त श्रुतज्ञान का ही एक भाग है । अतः उसे अर्थ से कहने वाले अरिहंत भगवंत हैं और सूत्र से गुँथने वाले गणधर भगवन्त हैं ।

इसी बात को सविशेष प्रमाणित करने के लिये इस आवश्यक सूत्र पर रचित निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाग्रन्थों के कई सत्य उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करते हैं ।

आवश्यक सूत्र जिसके छः अध्ययन हैं और जिसका प्रथम अध्ययन सामायिक है, वह अर्थ से अरिहंतों के द्वारा प्रकाशित है–यह बात निर्युक्तिकार भगवान श्री भद्रबाहुस्वामी के वचनों से हम देख चुके है ।

निर्युक्तिकार के बाद उल्लेखनीय स्थान प्राप्त होता है भाष्यकार का । आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति पर विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता समर्थ शास्त्रकार पुण्यनामधेय श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं, और उस पर विशद वृत्ति के रचयिता मलधारगच्छीय आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी हैं । अन्य के प्रसंग में ही वृत्तिकार फरमाते हैं किः–

चरण-करण-क्रिया-कलापरुप वृक्ष के मूल सदृश सामायिक अध्ययन रुप और श्रुतस्कंधरूप श्री आवश्यक सूत्र अर्थ से श्री तीर्थंकर देवों और सूत्र से श्री गणधर भगवन्तों द्वारा रचित है । इस सूत्र की अतिशय गंभीरता और सकल-साधु-श्रावक वर्ग की नित्य (क्रिया में) उपयोगिता जानकर चौदह पूर्वधर श्री भद्रबाहुस्वामीने आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थस्वरूप निर्युक्ति की रचना की है ।[1]

1. इह चरणकरणक्रियाकलापतरुमूलकल्पं सामायिकादिषडध्ययनात्मक श्रुतस्कंधरूपमावश्यकं तावदर्थस्तीर्थंकरैः, सूत्रतस्तु गणधरैर्विरचितम् । अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकलसाधुश्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिना एतद्व्याख्यानरूपा आभिणिबोहिअनाणं सुयनाणं चेव ओहिनाणं च इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थरूपा निर्युक्तिः कृता ।
सुयओ गणहारीणं, तस्सिसाणं, तहाऽवसेसाणं ।
एवं अत्ताणंतर – परंपरागमपमाणम्मि ।।
अत्थेण उ तित्थंकरगणधरसेसाणमेवेदं ।

तत्पश्चात् तीन प्रकार के लोकोत्तर आगमों में आवश्यक सूत्र किस में अवतार प्राप्त करता है– इसका वर्णन करते हुए भाष्यकार महर्षि स्वयमेव फरमाते हैं कि :–

इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार महर्षि फरमाते हैं कि:–

लोकोत्तर आगम तीन प्रकार के हैं :– (1) आत्मागम, (2) अनन्त-रागम, (3) परंपरागम । श्री आवश्यकसूत्र सूत्र से गणधरों को आत्मागम है, क्योंकि उन्होंने ही सूत्र की रचना की है, अर्थात् उनसे ही वह प्रकट हुआ है । उनके शिष्य जंबूस्वामी आदि को अनंतरागम है, क्योंकि आचार्यों की परम्परा से उन्हें प्राप्त है । अर्थ से अनुक्रमशः तीर्थंकरों को आत्मागम, गणधरों को अनंतरागम और शेष जंबूस्वामी आदि को परंपरागम हैं, क्योंकि अर्थ के प्रथम उत्पादक श्री तीर्थंकर देव हैं ।

भाष्यकार के पश्चात् तीसरा स्थान आता है चूर्णिकार के उल्लेख का । आवश्यक सूत्र किसके द्वारा रचित हैं ? इसका उत्तर देते हुए आवश्यकसूत्र की चूर्णि के रचयिता फरमाते हैं कि :– (प्रश्न) सामायिक किसने की ? (उत्तर) अर्थ की, अपेक्षा से श्री जिनेश्वर भगवंतो ने और सूत्र की अपेक्षा से श्री गणधर भगवंतो ने ।[1]

सामायिक अध्ययन को आवश्यक सूत्र में प्रथम स्थान क्यों ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार श्री हरिभद्रसूरिजी आदि महर्षिओने फरमाया है कि :–

समभाव लक्षणवाला सामायिक यहाँ प्रथम अध्ययन है । चतुर्विंशतिस्तव आदि उसी के भेद होने से सामायिक की प्राथमिकता हैं ।[2]

चूर्णिकार के बाद टीकाकारों में–आवश्यक पर विद्यमान टीकाओं में प्रथम टीकाकार के रूप में स्थान आचार्यपुंगव श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी का आता है । वे श्री आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा 742 पर टीका करते हुए फरमाते हैं कि :–

तीर्थंकर देव कृतकृत्य होने से सामायिक अध्ययन को तथा अन्य

---

1. केणं कयं सामायिकं ? अर्थं समाश्रित्य जिनवरैः सुत्तं गणहरेहिं ।
2. तत्र प्रथमाध्ययन-सामायिकं समभावलक्षणत्वात्,
चतुर्विंशतिस्तवादीनाँ च तद्भेदत्वात् प्रथम्यसस्येति ।

चतुर्विंशतिस्तव आदि अध्ययनों को किस प्रयोजन से कहते हैं ? उसका समाधान यह है कि तीर्थंकर नामकर्म मैंने पूर्व में उपार्जित किया है, उसे मुझे भोगना चाहिये-ऐसा जानकर श्री तीर्थंकर देव सामायिक और दूसरे चतुर्विंशतिस्तवनादि अध्ययन कहते है ।[1]

इसी बात को विशेषावश्यक के टीकाकार मल्लधारी श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी तथा आवश्यक के टीकाकार महर्षि श्री मलयगिरिजी महाराज स्वरचित टीकाओं में अक्षरशः प्रतिपादित करते हैं ।

इस प्रकार निर्युक्तिकार, भाष्यकार, चूर्णिकार और टीकाकारों के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होने से आवश्यक सूत्र और तदन्तर्गत सामायिक और प्रतिक्रमणादि अध्ययनों के रचयिता तीर्थंकरो के आद्य शिष्य बीजबुद्धि के स्वामी और चतुर्दशपूर्व की लब्धि धारण करने वाले गणधर भगवंत हैं–इस बात में लेशमात्र भी संशय नहीं रहता और इसीलिये प्रतिक्रमण सूत्रो का महत्त्व संघ में इतना अधिक क्यों है ? तथा जैन संघ में उसके प्रति आदरभाव यथावत् क्यों टिका हुआ हैं ? इसका स्पष्टीकरण स्वतः हो जाता है । साथ ही इस प्रश्न का समाधान भी हो जाता है कि पूर्वाचार्य महर्षिओं द्वारा विरचित सूत्र निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका ये पाँचो ही शास्त्र के अंग अस्खलित रूप से सुरक्षित रखे जा रहे हैं, उस संघ के हितैषी व्यक्ति जैन संघ के अभ्युदयार्थ धार्मिक अध्ययनक्रम में सर्व प्रथम सामायिक-प्रतिक्रमण के सूत्र पढ़ाने का आग्रह क्यों करते हैं ।

प्रश्न 159 :– आवश्यक सूत्रों की क्या महिमा है ?

उत्तर :– अनंतज्ञानी श्री अरिहंत देव के मुखकमल में से निकले हुए और बुद्धिनिधान श्री गणधरदेवों द्वारा संघके हितार्थ एक अन्तर्मुहूर्त में ही रचित सूत्रों के अन्तर्गत श्री आवश्यक और श्री आचारांगादि सूत्रों

---

1. तित्थयरो किं कारणं, भासइ सामाइयं तु अज्झयणं ।
तित्थयरनामगोत्तं, कम्मं मे वेइयव्वं ति ।। –आ.नि. गाथा–742।

टीका – तीर्थंकरणशीलस्तीर्थंकरः, तीर्थं पूर्वोक्तं, स किं कारणं-किं निमित्तं भाषते सामायिकं त्वध्ययनं ? तु शब्दादन्याध्ययनपरिग्रहः, तस्य कृत-कृत्यन्वादिति हृदयम्, अत्रोच्यतेतीर्थंकर-नामगोत्रं, तीर्थंकरनामसंज्ञ, गोत्र-शब्दः संज्ञायाम्, कर्म मया वेदितव्यमित्यनेन कारणेन भासते, इति गाथार्थः ।

की महिमा तथा उसका अर्थ-गंभीर्य अन्य सभी शास्त्रों की अपेक्षा अधिक है । यह स्वाभाविक है । सूत्र रचना की अपेक्षा से, अर्थ गांभीर्य की अपेक्षा से, सूत्र और अर्थ तदुभय के वैशिष्ट्य की अपेक्षा से गणधररचित कृतिओं का मूल्य सबसे अधिक है । इस दृष्टि से प्रतिक्रमण सूत्र और उनका अध्ययन चतुर्विध संघ के मन अधिक आदर पात्र रहे, इसमें लेशमात्र भी आश्चर्य करने जैसी बात नहीं है । गणधररचित श्री आचारांगसूत्र आदि अन्य रचनाएँ केवल मुनिगण के योग्य और वह भी अधिकारी और पात्र जीवों के योग्य होने से श्री आवश्यकसूत्र का स्थान उनसे अधिक व्यापक है, क्योंकि उसका अधिकारी बाल, बुध और मध्यम तीनों प्रकार का वर्ग है । तीनों प्रकार के साधु और श्रावक वर्ग के लिये ये सूत्र दैनिक क्रिया में उपयोगी होने से इनका अध्ययन श्री जिनाज्ञावर्ती चतुर्विध संघ में अधिक व्यापार और अग्रगण्य स्थान ले–यह सर्वथा सुघटित है ।

आज यह शिकायत है कि प्रतिक्रमण सूत्रों का अध्ययन विद्यार्थी वर्ग को नीरस लगता है और उसकी क्रिया उकताने वाली लगती है, इसलिये धार्मिक पाठ्यक्रम में परिवर्तन तथा सुधार होना चाहिये । इस शिकायत के संबंध नें यही कहना है कि श्रीगणधर भगवंतों की कृति रसपूर्ण ही होती है, मात्र उस रस के आस्वादन हेतु हमें स्वयं को तदनुकूल बनना चाहिये, उसका अधिकारी बनना चाहिये ।

इस अधिकार के लिये ज्ञान और श्रद्धा दोनों अपेक्षित हैं । ज्ञान भाषा संबंधी, सूत्ररचना संबंधी और अर्थ गाम्भीर्य संबंधी होना चाहिये । श्रद्धा रचयिता संबंधी, रचयिता के व्यक्तित्व और चारित्र संबंधी, रचयिता की विशाल बुद्धि और अनंत करुणा संबंधी होनी चाहिये, परन्तु अँग्रेजी भाषा के अत्यधिक आदर और सम्मान से आज की प्रजा ने संस्कृत और प्राकृत भाषा का ज्ञान लगभग खोया ही है । साथ ही थोड़े अक्षरों में अधिक अर्थ समाविष्ट कर लेने की शक्तिवाले सूत्र और उनकी रचनाशैली की श्रेष्ठता नहीं समझने के कारण, अधिक शब्दों में अल्प ही अर्थ कहने वाले अन्य वाचन में शक्ति का अधिक व्यय हो रहा है तथा जिसके अभ्यास से एक ही जन्म में अनेक जन्मों के कार्य सिद्ध

हो सकें ऐसे अर्थ और तत्त्वों से भरे हुए शास्त्रों को छोड़कर एक ही जन्म के तत्क्षण पर्यन्त कार्य की संदिग्ध सिद्धि को बताने वाले ग्रन्थों के वांचन में ही समय काटने में आज का व्यक्ति अभ्यस्त हो गया है, इसीलिये गणधरचित सूत्रों, उनकी शैली, उनकी भाषा तथा उनमें संग्रहित महान् अर्थों से संबंधित अध्ययन में रुचि उत्पन्न नहीं होती ।

इसी प्रकार श्रद्धा भी आज चाहे जिस व्यक्ति पर, चाहे किसी की बुद्धि पर रखने के लिये लोकमानस अभ्यस्त हो गया । ऐसी स्थिति में शुद्ध व्यक्तित्व वाले, शुद्ध चारित्र वाले, विशाल बुद्धि वाले और निष्कारण करुणा वाले महापुरुषों ने महान् प्रयोजन की सिद्धि हेतु जो सूत्र और जो क्रियाएँ बताई हैं उनके अभ्यास में उदासीनता, प्रमाद या आलस्य का अनुभव होता है तो वह भी सहज है ।

आवश्यक सूत्रों की भाषा सर्व श्रेष्ठ है, अर्थ बड़े गंभीर हैं, रचना सर्व मंत्रमय है, इस प्रकार का ज्ञान और रचयिता सर्वश्रेष्ठ चारित्र सम्पन्न, सर्वोत्तम बुद्धि के निधान और लोकोत्तर करुणा के भंडार हैं । इस प्रकार की श्रद्धा होने के पश्चात् आवश्यक सूत्रों के अध्ययन में तथा शास्त्रोक्त विधि के अनुसार नित्य प्रतिक्रमण की क्रिया में रुचि उत्पन्न ना हो-यह संभव नहीं है, बल्कि अन्य सभी अभ्यासों और अन्य सभी क्रियाओं के रस की अपेक्षा उसका रस बढ़कर है-ऐसा अनुभव अवश्य होता है ।

प्रश्न 160 :– तत्वज्ञान के ग्रंथों का अभ्यास प्रथम क्यों नहीं ?

उत्तर :– आवश्यक सूत्रों का अभ्यास मात्र क्रिया करने वालों के लिये ही उपयोगी है, परन्तु ज्ञान की तीव्र अभिलाषा वाले को उस में से कुछ भी विशिष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं होता–ऐसी एक शिकायत सुनने को मिलती है । इसका उत्तर निर्युक्तिकार भगवान श्री भद्रबाहुस्वामी स्वयं ही निर्युक्ति की गाथाओं में सचोट रूप से देते हैं । ***सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का सार चारित्र है और सम्पूर्ण चारित्र का सार मोक्ष है । यह जिनशासन का मुद्रालेख है ।*** जिस ज्ञान के पीछे चारित्र का हेतु नहीं, वह ज्ञान नहीं परन्तु एक प्रकार का अज्ञान है, प्रकाश नहीं परन्तु एक प्रकार का

कायकष्ट है, गुण नहीं परन्तु गुणाभास है । मोक्ष ही सर्व प्रयोजनों का प्रयोजन है, सर्व साध्यों का साध्य है । मोक्ष का साधन है इसलिये चारित्र आदरणीय है । मोक्ष के साधन का साधन है इसलिये ज्ञान आदरणीय हैं । यदि ज्ञान चारित्र का साधन न बने, और चारित्र मोक्ष का साधन न बने तो शास्त्रकारों की दृष्टि से दोनों निष्फल हैं, निरर्थक हैं, हानिकर हैं । इस दृष्टि को ध्यान में रखकर ज्ञान और क्रिया का विचार करना है ।

प्रतिक्रमण की क्रिया और तत्सम्बन्धी ज्ञान तत्त्वज्ञान के अर्थी को निरर्थक लगते हो तो वह तत्त्वज्ञान का सच्चा अर्थी ही नहीं, परन्तु तत्त्वज्ञान के नाम पर कोई अन्य ही ज्ञान प्राप्त करने का पिपासु है, वह ज्ञान शास्त्रकारों की दृष्टि में मात्र बोझरुप प्रमाद का पोषक अथवा अहंकारादि की बुद्धिरूप बनने की भारी संभावना है अथवा तो उससे उसे कोई भी आत्मिक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । श्री जैन शासन में क्रिया के लिये ही ज्ञान है । जहाँ क्रिया की आवश्यकता नहीं वहाँ ज्ञान की आवश्यकता नहीं । अथवा दया के लिये ज्ञान है इसलिये जहाँ दया की आवश्यकता नहीं वहां ज्ञानवृद्धि की भी क्या आवश्यकता है ? दया की रुचि से रहित को ज्ञान अधिक निर्दय बनाता है, उसी प्रकार क्रिया की रुचि से विहीन को ज्ञान अधिक निष्क्रिय (प्रमादी) या अधिक असक्रिय (पापपरायण) बनाता है ।

पढमं नाणं तओ दया – प्रथम ज्ञान और बाद में अहिंसा । इन शास्त्रो-वचनों का मर्म दया या अहिंसा को पीछे रखने के लिए नहीं है, परन्तु अधिक पुष्ट करने हेतु है । दया साध्य है और ज्ञान उसका साधन है । साध्य की सिद्धि हेतु साधनो की आवश्यकता होती है, साध्य को भूल जाने के लिये नही । साध्य भूल जाने के बाद साधन साधन ही नहीं रहता । दया को पुष्ट बनाने के लिये ज्ञान पढ़ो । अहिंसा को दृढ बनाने के लिये ज्ञान का आदर करो यहाँ यह तात्पर्य है । दया का आदर्श रखकर ज्ञान को पढ़ना है । दया को छोड़कर ज्ञान पढ़ने का उपदेश नहीं । यहाँ दया चारित्र का उपलक्षण है । यही बात क्रिया के सम्बन्ध में

है । क्रिया को स्थायी बनाने के लिये ज्ञान पढो । क्रिया या चारित्र के बिना मोक्ष नहीं, अतः ऐसा ज्ञान खूब पढ़ो जिससे चारित्र और क्रिया सुदृढ़ हो । प्रतिक्रमण की क्रिया भी चारित्र की शुद्धि के लिये है । जिस प्रकार चारित्र के बिना मोक्ष नहीं, उसी प्रकार प्रमादग्रस्त और दोषों से भरे हुए जीवों के लिये इन दोषों की बार 2 शुद्धिरूप प्रतिक्रमण किये बिना चारित्र भी नहीं । जैन शास्त्रकारों का यह भावपूर्वक उपदेश है कि मात्र भावना से या मात्र तत्त्वज्ञान के बल से किसी जीव का मोक्ष नहीं हुआ, होता नहीं, होगा नहीं । सद्गति या मोक्ष का मुख्य आधार अकेला ज्ञान नहीं परन्तु ज्ञानयुक्त क्रिया है । ज्ञान तो मात्र क्रिया का उत्तेजक तथा शुद्ध करनेवाला है । जिस ज्ञान से वह कार्य न हो सके वह ज्ञान बाँझ है, निष्फल है, शून्यवत् है । **ज्ञानस्य फलं विरतिः** प्रशमरति गाथा 72 ।

निर्युक्तिकार भी भगवान भद्रबाहुस्वामी फरमाते हैं कि :–

श्रुतज्ञान में वर्तता हुआ जीव यदि तप और संयममय योगों को करने में असमर्थ हो तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता ।

आगे बढ़कर वे फरमाते है कि :–

ज्ञानरूपी नियामक प्राप्त करते हुए भी जीव रूपी पोत (नाव), तप-संयम रूपी पवन के बिना, संसार समुद्र का पार-मुक्तिस्थान प्राप्त नहीं कर सकती । संसार सागर में मनुष्यभव आदि सामग्री प्राप्तकर, कुछ ऊँचा आने के बाद, और बहुत कुछ जानते हुए भी यदि चारित्र गुण विहीन रह गया तो पुनः डूब जाएगा । चारित्रगुण से हीन को अधिक ज्ञान भी अंधे के आगे लाखों और करोड़ों दीपकों की भाँति क्या फल देगा ? चारित्रयुक्त को प्राप्त अल्प भी श्रुत चक्षुसहित को एक भी दीपक की तरह प्रकाश करने वाला होता है । चंदन के बोझ को वहन करनेवाला गधा बोझ का भागी होता है, परन्तु चंदन की सुगंध का भागी नहीं होता, उसी प्रकार चारित्र से हीन ज्ञानी ज्ञान का (अर्थात् ज्ञान पढ़ने से उत्पन्न कष्ट का) भागी होता है, परन्तु सुगति का भागी नहीं होता । ज्ञान के साथ क्रिया का संयोग होने से मोक्ष होता है परन्तु अकेले

ज्ञान से नहीं । जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता परन्तु दो चक्रों से चलता हैं अथवा जैसे अंधा और पंगु दोनों साथ मिलकर इष्ट स्थानपर पहुँचते हैं, उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया साथ मिलकर ही मोक्ष को साधते हैं, एकाकी रूप में कदापि नहीं । जिस प्रकार घर की शुद्धि करनी हो तो दीपक का प्रकाश चाहिये, पुराने कचरे को निकालना चाहिये और नवीन आते हुए कचरे को रोकना चाहिये, उसी प्रकार जीव की शुद्धि में ज्ञान दीपक की भाँति प्रकाश करने वाला है और क्रिया जो तप संयम उभय स्वरूप है वह अनुक्रम से कर्मरूपी कचरे का निकन्दन करनेवाली तथा नवीन आते हुए कर्मरुपी कचरे को रोकनेवाली है ।

इस प्रकार मोक्ष मार्ग में क्रिया मुख्य उपकारकर्ता है और ज्ञान उसका एक साधन मात्र है । इसलिये तप-संयमरूपी क्रिया को पुष्ट और शुद्ध करने वाली प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रिया और उससे सम्बन्धित सूत्रों का अध्ययन–अध्यापन मोक्षमार्ग का अनिवार्य अंग है ।

प्रश्न 161 :– प्रथम तत्त्वार्थाधिगमसूत्र या प्रथम प्रतिक्रमणसूत्र ?

उत्तर :– मुक्तिमार्ग पर प्रयाण करने के इच्छुक मुमुक्षु आत्मा को सर्व प्रथम अध्ययन तत्त्वज्ञान के ग्रन्थों का करवाएँ या क्रिया प्रधान सूत्रों का करवाएँ ? यह प्रश्न बड़ा विचारणीय है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रथम अध्ययन मुख्यतः क्रिया प्रधान सूत्रों का करवाया जाता है जब कि दिगम्बर संप्रदाय में (तत्त्वार्थसूत्र जिन में मुख्य है ऐसे) तत्त्वप्रधान ग्रन्थों का करवाया जाता है । मुक्ति मार्ग में दोनों ही वस्तु इष्ट होने पर भी एकाकीरूप से दोनों निष्फल हैं–यह बात हम ऊपर देख आए हैं । अब जब क्रम का ही विचार करना है तो सर्व प्रथम ज्ञान को मुख्यता दे या क्रिया को ? यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है । संविज्ञ, भवभीरु और गीतार्थ श्वेताम्बर महर्षियों के पास पंचांगीसहित समस्त श्रुतज्ञान की धरोहर होने से उसके मन्थनस्वरूप उन्होंने क्रिया प्रधान सूत्रों के अध्ययन का ही क्रम पसंद किया है और अपने अनुयायियों का जीवन तदनुसार ढालने के लिये ही मुख्य प्रयास किया है । इसका परिणाम आज प्रत्यक्षरूप से भी देखने को मिलता है कि श्वेताम्बर

संप्रदाय में दोष की शुद्धि के लिये प्रतिक्रमणरूपी आवश्यक क्रिया प्रतिदिन चलती रहती है, प्रतिदिन न कर सकने वाला प्रतिपक्ष, प्रतिचातुर्मास और अन्त में प्रतिवर्ष एक बार तो अवश्य करता ही है जिससे संघ व्यवस्था बनी रहती है, पाप से पीछे हटने रूपी कर्तव्य का पालन करने की समग्र संघ की धर्मभावना बनी रहती है, समान सूत्रों द्वारा सभी के लिये वह क्रिया करणीय होने से सकल संघ (फिर वह द्रव्य की अपेक्षा से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप हो अथवा क्षेत्र की अपेक्षा पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण के देश का निवासी हो, अथवा वय की अपेक्षा बाल, वृद्ध बाल, वृद्ध, युवान या प्रौढ हो, अथवा भाव की अपेक्षा अधिक गुणी, अल्पगुणी, मध्यमगुणी या सामान्यगुणी हो-सभी) स्वयं को लगे हुए दोषों की शुद्धि करवाने वाली क्रिया के आराधक बनकर सुगति को साधने के लिये शक्तिमान होते हैं । क्रिया प्रधानता का यह महान लाभ है । ऐसे क्रियाप्रधान संघ में जितना ज्ञान बढता जाए उतना लाभ-दायक है, आभूषणरूप है, शोभारूप है, कुगति के मार्ग को काटने वाला है । इसके विपरीत जहाँ क्रिया मुख्य नहीं मानी गयी है, वहाँ ज्ञान बढ़ने के साथ 2 अधिक अधिकांशतः अहंकार की वृद्धि, क्रिया की उपेक्षा, प्रमाद की पुष्टि और आलस्य का आदर होता जाता है । परिणामस्वरूप आत्मा की अधोगति और स्वेच्छाचार की परम्परा बढ़ती है । अनादिकाल से जीव के स्वेच्छाचार से विहार करने और स्वच्छंद आचारण करने की बुरी लत पड़ी हुई है । उस बुरी लत से अभ्यस्त जीवों को ज्ञान की बात मधुर लगती है और क्रिया की बात कटु लगती है परन्तु शास्त्रकार महर्षियों की दृष्टि में ऐसे व्यक्तियों की स्थिति–

जैसे पाग कोऊ शिर बाँधे, पहिरन नहि लंगोटी;
सद्गुरु पास क्रिया बिनु सीखे, आगम बात त्युं खोटी०
(–उपाध्याय श्री यशोविजयजी गु.सा.सं. भाग 1, पृ 162, गा.1)

उसके जैसे होती है । नीचे का अंग ढँकने के लिये जिसके पास एक छोटी सी लंगोटी भी नहीं, वह मस्तक पर बड़ी पगड़ी बांधकर बाजार में होकर निकले तो हास्यास्पद ही होता है । उसी भाँति लगे हुए

पाप का शुद्धिकरण करने हेतु स्वल्प क्रिया भी जिसने नहीं रखी वह ज्ञान और शास्त्र की बड़ी 2 बातें करे तो मात्र बातें करने से उसकी शुद्धि या सद्गति नहीं हो सकती ।

जो प्रतिक्रमण की क्रिया को इस दृष्टि से सोच सकते हैं, उनके लिये इस क्रिया के लिये अल्प किन्तु अत्यन्त आवश्यक सूत्र पढ़ने के लिये अरूचि या ऊब होने को लेशमात्र भी संभव नहीं; बल्कि इतने अल्प सूत्रों में ऐसी महान् क्रिया को चतुर्विध संघ के हितार्थ उतार देने वाले अपूर्व रचना शक्ति के धारक गणधर भगवंतों के ज्ञान और करुणा पर अत्यन्त आदर होना संभव है और इन सूत्रों के अध्ययन और इसके आधार पर होती हुई विधियुक्त प्रतिक्रमण की क्रिया के विधानों को आज तक हम तक पहुँचाने वाले श्रद्धासम्पन्न चतुर्विध संघ की अविच्छिन्न परम्परा का उपकार हमारे लक्ष्य में आने की संभावना है । इससे फलित होता है कि तत्त्वज्ञान के सूत्रों का अध्ययन करवाने से पूर्व क्रिया प्रधान सूत्रों का अध्ययन हो तो वह मोक्षमार्ग में अत्यन्त आवश्यक है ।

प्रश्न 162 :– कब तक प्रतिक्रमण की आवश्यकता है ?

उत्तर :– प्रतिक्रमण का अर्थ स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार महर्षि फरमाते है कि :–

प्रमादवश अपना स्थान छोड़कर परस्थान में पहुँचा हुआ जीव स्वस्थान में लौटता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं ।[1]

अपना स्थान अर्थात् स्वयं प्राप्त किया हुआ धर्मस्थान अथवा गुण स्थान । प्राप्त धर्मस्थान या गुणस्थान से जीव के भ्रष्ट होने का कोई भी कारण हो तो वह प्रमाददोष की अधीनता है । जीव का यह प्रमाद दोष सातवें और उससे ऊपर के गुणस्थान प्राप्त होने से पूर्व सर्वथा दूर नहीं होता । गुणस्थानों का यह स्वरूप जो जानते नहीं, वे आत्मज्ञान के नाम, ब्रह्मविद्या के नाम या स्वरूपमणता के नाम एक प्रकार की भयंकर भ्रांति के शिकार बन जाते हैं जो मुक्तिमार्ग में एक बड़े से बड़ा भय स्थान है । इस विषय में श्वेतांबर और दिगम्बर दोनों ही शास्त्रकारों ने

1. स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः ।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ।।1।।

एक जैसी चेतावनी दी है । जीव के उत्क्रान्ति मार्ग के सोपान के रूप में दोनों ही शास्त्रकारों ने एक जैसी चेतावनी दी है ।

जीव के उत्क्रान्ति मार्ग के सोपान के रूप में दोनों ही शास्त्रों में चौदह प्रकार के गुणस्थानों का वर्णन किया है जिसके अनुसार जहाँ तक जीव मिथ्यात्वदोष के अधीन है, वहाँ तक वह प्रथमगुणस्थान से ऊपर नहीं जा सकता । जहाँ तक अविरति के दोष के अधीन है, वहाँ तक छठे गुणस्थान से ऊपर नहीं बढ़ सकता । वर्तमान में काल, क्षेत्र और जीवों की धृति तथा संघयण के दोष के कारण छठे और सातवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान नहीं माने जाते । सातवें गुणस्थान का सम्पूर्ण काल एकत्रित किया जाए तो भी वह एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं हो सकता । जीव का अधिक से अधिक काल प्रमत्त नामक छठे और उससे भी नीचे के गुणस्थानों में ही बीतता है–ऐसी स्थिति में इसका रक्षक यदि कोई भी हो तो वह मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद इन तीनों की प्रतिपक्षी क्रियाएँ ही हैं ।

मिथ्यात्व से प्रतिपक्षभूत सम्यक्त्व है । वह चतुर्थ गुणस्थान में प्राप्त होता है । उसका रक्षण करनेवाली क्रिया देव-गुरु-संघ की भक्ति और शासनोन्नति की क्रिया है । अविरति की प्रतिपक्षी विरति है जिसके दो प्रकार है :– आंशिक और सर्वथा । आंशिक विरति को देशविरति कहते हैं, सर्वथा विरति को सर्वविरति कहते हैं । देशविरति का रक्षण करनेवाला गृहस्थ के षट्कर्म[1] और बारह व्रतादि का पालन है । सर्वविरति का रक्षण करने वाली साधु की दैनिक सामाचारी और प्रतिक्रमणादि क्रिया है । इस क्रियाओं के अवलंबन बिना सम्बन्धित गुणस्थान टिक नहीं सकते । प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त बिना क्रिया मात्र भाव से, मात्र ध्यान से ही जो मोक्ष के इच्छुक हैं, वे मिथ्यात्व मोह से मुग्ध होते हैं–ऐसा जैनशास्त्रकार दृढतापूर्वक मानते हैं । ध्यान या ज्ञान में वे कितने ही आगे बढे हुए (स्वयं को मानते) हों, तब भी भूमिका के योग्य

1. देवपूजा गुरुपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने दिने ।।1।। (गुणस्थान क्रमारोह टीका)

क्रिया से वंचित हों तो वे प्रथम गुणस्थान से एक कदम भी आगे बढे नहीं–ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि दोष की प्रतिपक्षी क्रियाएँ ही उन दोषों का निग्रह कर सकती हैं ।

जैन दर्शन इस काल और इस क्षेत्र में केवलज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति का निषेध करता है, ऐसा निषेध अन्य दर्शनों में नहीं है, इसका कारण गुणस्थान के इस क्रम की अनभिज्ञता है । वासनाक्षय या मनोनाश जीवन मुक्ति या विदेहमुक्ति किस क्रम से प्राप्त हो सकती है इसका संगीन ज्ञान, युक्ति-युक्त ज्ञान, प्रमाणभूत ज्ञान आज भी यदि किसी धर्मशास्त्र में प्राप्त हो सकता हो तो वह जैनशास्त्रों में ही प्राप्त हो सकता है । वासना (मोह) का समूल नाश बारहवें गुणस्थानक के सिवाय हो नहीं सकता । दसवें गुणस्थानक तक लोभ का अंश रह जाता है । ग्यारहवें गुणस्थान में भी उसकी सत्ता है ।

मनोनाश केवल तेरहवें गुणस्थान में हो सकता है और वही जीवन मुक्ति दशा है । विदेहमुक्ति जो उससे भी आगे बढ़ने के बाद चौदहवें गुणस्थान के अंत में होती है । उससे पूर्व उसकी कल्पना करना और केवल मानसिक आवेगो (मेन्टल कन्सेप्शनस्) को ही मुक्ति या कैवल्य कल्पित कर लेना यह गंभीर विपरीत समझ है । ऐसी आत्माओं के प्रशम या धारणा, ध्यान या समाधि इन शास्त्रकारों की दृष्टि में एक प्रकार की मोह की मूर्च्छा है । गुणस्थानों की अपेक्षा से वे प्रथम गुणस्थान से जरा भी आगे नहीं बढे ।

भावना और वस्तुस्थिति दोनों ही अलग अलग हैं । वस्तुस्थिति की दृष्टि से सांसारिक आत्मा मात्र चैतन्य अर्थात् भावना का पुतला नहीं है, न मात्र जड़कर्म अर्थात् पुद्गल की रचना ही है; किन्तु जड़कर्म और चैतन्य भाव का संमिश्रण भी मात्र संयोग संबंधरूप भी नहीं, परन्तु कथंचित् तादात्म्य (अभेद) संबंधरूप है । इस संबंध को जानने के लिये शास्त्रों ने क्षीर नीर और लोहाग्नि न्याय के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । क्षीर और नीर तथा लोहा और अग्नि परस्पर अलग 2 होते हुए भी जिस प्रकार एक दूसरे के साथ परस्पर अनुविद्ध होकर मिल जाते है, उसी

प्रकार जीव और कर्म भी परस्पर अनुविद्ध होकर मिले हुए हैं । यह मिलन जब तक अलग न हो तब तक दोनों पारस्परिक प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते । जीव के ऊपर कर्म का प्रभाव है और कर्म पर जीव का प्रभाव है । जीव के प्रभाव से प्रभावित होकर कर्म के पुद्गल में जीव को सुख-दुःख देने की शक्ति उत्पन्न होती है और कर्म के प्रभाव से जीव विविध प्रकार के सुख दुःख, अज्ञान ओर मोह के विपाको का अनुभव करता है । यह वस्तु स्थिति जो जानते नहीं अथवा विपरीत रीति से जानते हैं, वे अकेली भावना के बल से अथवा केवल क्रिया के बल से मुक्ति प्राप्त करने का अर्थशुन्य प्रयास करते हैं ।

अध्यात्म या मोक्ष के नाम पर विविध प्रकार के मतों की उत्पत्ति भी इस वस्तुस्थिति की अनभिज्ञान का ही फल है । कई कर्म को वासना-रूप मानते हैं, कई अविद्यारूप मानते हैं, और कई उसे केवल भ्रमरुप मानते हैं । इसलिये उसका निवारण करने के उपाय भी उसी प्रकार से सोचते हैं और केवल मानसिक उपायों से उसका क्षय मानते हैं, परन्तु कर्म केवल वासना या मानसिक भ्रमरुप नहीं हैं, परन्तु यह भ्रम भी जिनमें से उत्पन्न होता है, ऐसे पौद्गलिक पदार्थ और उसके प्रभावरुप है । अतः उसका क्षय केवल मानसिक विचारणा या केवल मानसिक क्रियाओं से नहीं होता, परन्तु जिन 2 द्वारों से वे पौद्गलिक कर्म आते हैं, उन सभी द्वारों को बंद कर आने वाले नवीन कर्मों को रोकने और प्रथम के कर्मों का क्षय करने हेतु उद्यम भी आवश्यक है । यह उद्यम ज्ञान और क्रिया दोनों के स्वीकार द्वारा होता है । सम्यग्ज्ञान से मिथ्या भ्रम दूर होता है और सम्यक् क्रिया से पौद्गलिक कर्म के बंध शिथिल होते हैं । पाप क्रिया से जैसे कर्म का बंध होता है उसी प्रकार संवर और निर्जरा साधक क्रिया से कर्मों का बंध रुकता है और जीर्ण कर्म नष्ट होते हैं तथा अंतिम कर्म क्षय भी योगनिरोध रूपी क्रिया से होता है ।

ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः । इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि ज्ञानाभ्यास द्वारा जीव और कर्म का यथास्थित संबंध समझा जाता है और तप तथा संयमरूप क्रियाभ्यास द्वारा पूर्व कर्म कटते हैं तथा आनेवाले नवीन कर्म

रुकते हैं । कर्म को पौद्गलिक मानते हुए जो उसका संबंध संर्पकंचुकवत् (सर्प की कंचुकी जैसा) या चन्द्राभ्रवत् (चन्द्र के ऊपर बादल की तरह) मानते हैं अथवा कर्म परद्रव्य है इसलिये जीवन का कुछ भी कर ही नहीं सकता ऐसा एकान्तवाद स्वीकार करते हैं वे जैन मत का एक अंश मानते हुए अन्य अंश का निषेध करते हैं इससे जैन नहीं परन्तु जैनाभास हो जाते हैं । कर्मों का क्षय करने हेतु जिस प्रकार उद्यम होना चाहिये, वैसा उद्यम उनसे हो नहीं सकता । वस्तुतः कर्म जीव को मात्र स्पर्श करके ही रहे हुए नहीं है, परन्तु परस्पर अनुवेध प्राप्त किए हुए होते हैं । इसलिये कर्म पुद्गल से प्रभावित जीव कथंचित् जड़स्वरूप बना हुआ है । उसकी यह जड़ता मात्र अज्ञात स्वरूप है–ऐसा नहीं परन्तु प्रमादस्वरूप भी है । प्रमाद और अज्ञान ये दोनों ही दोष जीव पर इस प्रकार चढ़कर बैठे हैं कि मानो आत्मा तत्स्वरूप बन गई है । इसमें अज्ञान दोष से भी प्रमाददोष का बल अधिक है इसीलिये अज्ञान से मुक्त बने हुए ज्ञानीजन भी प्रमाद के अधीन होकर क्षणभर में निगोद में चले जाते हैं, गुणस्थानक के क्रमानुसार अज्ञानदोष चौथे गुणस्थान पर चला जाता है, जब कि प्रमाददोष की सत्ता छठे गुणस्थान पर्यन्त रहती है । जहाँ तक यह प्रमाद दोष विद्यमान है, वहाँ तक विरतिधर मुनिजन भी इस प्रमाददोष को दूर करने वाली क्रियाओं का आश्रय न लें और मात्र ज्ञान से या मात्र ध्यान से मुक्ति प्राप्त हो जाएगी–ऐसा मान लें तो वे भी संसार में रुल जाते हैं–ऐसा जैन शास्त्र फरमाते हैं ।

गुणस्थानक क्रमोराह में छठे गुणस्थानक की स्थिति का वर्णन करते हुए फरमाया है कि–

जहाँ तक जीव प्रमादयुक्त है वहाँ तक उसमें निरालंबन ध्यान टिक नहीं सकता–ऐसा जिनेश्वर भगवंत कहते हैं ।[1] (निरालंबन ध्यान अर्थात् क्रियादि के आलंबन से रहित ध्यान)

प्रमाद दोष दूर किये बिना मुनि आवश्यक क्रिया का त्याग कर

1. यावतप्रमादसंयुक्तस्ताक्तस्य न तिष्ठति ।
धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूचुर्जिन भास्कराः ।।

केवल निश्चल ध्यान का आश्रय ले, तो वह जैन-आगम जानता ही नहीं, और मिथ्यात्व से मोहित हैं ।[2] (निश्चल ध्यान अर्थात् ध्यान के सिवाय अन्य सभी क्रियाओं का त्याग)

इस कारण से जहाँ तक अप्रमत्त गुणस्थानों के योग्य उत्कृष्ट धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्राप्ति न हो वहाँ तक आवश्यक क्रियाओं के द्वारा प्राप्त दोषों का निकृन्तन-दूरीकरण करना चाहिये ।[3]

प्रश्न 163 :– क्या प्रमत्त के लिये क्रिया ही ध्यान है ?

उत्तर :– श्री जिनमत में ध्यान शब्द के भिन्न 2 तीन अर्थ किए गए हैं । ध्यै चिन्तायाम् । इस व्युत्पत्ति से एकाग्रतापूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध भी ध्यान है तथा यह स्थिति प्राप्त न हो वहाँ तक योगों का उत्कृष्ट प्रयत्न और उसका प्रशस्त व्यापार भी ध्यान है । इसके लिये श्री विशेषावश्यक महाभाष्य में फरमाया है कि–

केवल चित्तनिरोध मात्र ही ध्यान नहीं परन्तु योगों का सुदृढ प्रयत्न पूर्वक व्यापार अथवा विद्यमान मन-वचन-काया के योगों का निरोध भी ध्यान ही है ।[4]

धातु के अनेक अर्थ होते हैं इस कारण ध्यान शब्द चित्त निरोध के अर्थ में जैसे प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार योगनिरोध अर्थात् मन-वचन-काया इन तीनों की दोषरहित निर्मल प्रवृत्ति और सर्वथा अप्रवृत्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । उसमें सर्वथा योगनिरोध चौदहवें गुणस्थान में होता है । चित्तनिरोध प्रथम गुणस्थानक से प्रारम्भ हो सकता है । मन-वचन-काया के योगों का प्रयत्नपूर्वक प्रशस्त प्रवर्तन छट्ठे गुणस्थानक तक आवश्यक है । तत्पश्चात् बारहवें गुणस्थानकों तक का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता । तेरहवें गुणस्थान का काल

---

2. प्रमाद्यावश्यकत्यागान्निश्चलं ध्यानमाश्रयेत् ।
   यौऽसौ नैवागमं जैनं, वेत्ति मिथ्यात्वमोहितः ।। गु.क्र. गाथा-29-30
3. तस्मादावश्यकैः कुर्यात्, प्राप्तदोषनिकृन्तनम् ।
   यावन्नाप्नोति सद्ध्यानमप्रमत्तगुणाश्रितम् ।। गु.क्र. गाथा-39
4. सुदढप्पयत्तवावारणं, णिरोहो व विज्जमाणाणं ।
   झाणं करणाण मयं, ण उ चित्तणिरोहमित्तागं ।।3071।।

देशोनपूर्वकोटि है, परन्तु वहाँ तीन प्रकार के ध्यान में से एक भी प्रकार का ध्यान नहीं है । उस काल को ध्यानांतरिका कहते हैं । चौदहवें गुणस्थानक में भी चित्तनिरोधरुप ध्यान नहीं परन्तु योगनिरोधरूप ध्यान है । इस द्रष्टि से विचारें तो जिन शासन में योगनिरोधरूप ही सबसे महत्व का और सबसे बढ़कर ध्यान माना हुआ है । उसके साधनरूप कोई भी क्रिया चाहे वह निरोध रूप हो या निरवद्य व्यापाररूप हो, वह भी ध्यान है, क्योंकि ध्यान का फल जो कर्मक्षय है वह उभय से सधता है ।

जो चित्तवृत्ति के निरोध को ही केवल ध्यान कहते हैं, वे ध्यान शब्द के मर्म को समझे नहीं, क्योंकि चित्तवृत्ति को निरोध वाला ध्यान तो स्नान, पान, अर्थ, कामादि संसारवर्धक और कर्मबंधकक्रियाओं में भी संभव है, परन्तु वह ध्यान आर्त रौद्रस्वरूप है, धर्मसाधक नहीं । उसे भी यदि साधक मानें तो मछली पकड़ने के लिये बगुले का या चूहे को पकड़ने के लिये बिल्ली का ध्यान भी इष्ट साधन मानना चाहिये, परन्तु वैसा कोई नहीं मानता । इसलिये केवल चित्तवृत्ति का निरोध ध्यानस्वरुप नहीं बनता, किन्तु संक्लिष्ट चित्तवृत्तियों का निरोध वास्तविक धर्म साधक ध्यान है और वह भी एक प्रकार का प्रशस्त मनोव्यापाररुप है । इसलिये जहाँ तक आत्मा का प्रमाद-दोष दूर नहीं हुआ, वहाँ तक प्रमाद की ओर बढ़ रहे मन-वचन-काया के व्यापार को रोकने के लिये जो कोई प्रशस्त व्यापार है वह वास्तविक ध्यान है, क्योंकि ध्यान का फल कर्मक्षय और संपूर्ण कर्मक्षय के लिये साधक जो शैलेशी अवस्था-चतुर्दश गुणस्थानक है वह उसी से क्रमशः सिद्ध होती है ।

पू. उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज फरमाते हैं कि–

निश्चय धर्म न तेणे जाण्यो, जे शैलेशीअंत वखाण्यो ।
धर्म अधर्म तणो क्षयकारी, शिवसुख दे जे भवजलतारी ।।
तस साधन तूं जे जे देखे, निज निज गुणठाणा ने लेखे,
तेह धरम व्यवहारे जाणो, कारज-कारण एक प्रमाणो ।

–सवा सौ गाथाओं का स्तवन-ढाल 10 वी गाथा 2-3

चित्तनिरोधरुप या निर्विकल्प चिन्मात्र समाधिरुप ध्यान ही निश्चयधर्म

है और वही एक कर्मक्षय और मोक्ष का साधन है ऐसे एकांतवादी को पू. उपाध्यायजी महाराज उत्तर देते हैं कि मोक्ष का अनंतर साधन जो निश्चयधर्म है वह तो शैलेशी के अंत में कहा है और वह धर्म भी पुण्य-पाप-दोनों का क्षय करके मोक्ष देता है । उसके साधनरूप जो 2 धर्म अपने 2 गुणस्थानक में उपयुक्त हैं वे भी निश्चयधर्म के कारणरूप होने से धर्म हैं । कार्य और कारण के बीच कथंचित् एकता होने से दोनों ही प्रमाणरुप है । कार्य की उत्पत्ति उसके कारण से होती है, इसलिये निश्चयधर्म कार्य की उत्पत्ति में कारणरुप व्यवहारधर्म हैं जो कि प्रशस्त प्रवृत्तिस्वरूप है, उसे भी धर्म के रुप में मानो । शुभ व्यापर से द्रव्याश्रव होता है, तब भी उससे निज परिणति रूप धर्म को बाधा नहीं पहुँचती । जहाँ तक योग क्रिया का संपूर्ण निरोध नहीं हुआ, वहाँ तक जीव योगारंभी है । इस स्थिति में मलिन आरंभ का त्याग करवाने वाला और शुभ आरंभ में प्रवृत्त करवाने वाला तथा आलस्यदोष और तज्जनित सद्व्यवहार के विरोध को उत्पन्न करने वाला मिथ्या भ्रम को दूर करनेवाला प्रशस्त व्यापार भी ध्यान ही है और वह परम धर्मरुप है, अनन्य आधाररूप हैं ।

श्री जिनमत में क्रिया को छोड़कर दूसरा ध्यान नहीं–ऐसा जो कहा जाता है, उसका रहस्य यह है कि ध्यान के बिना कर्म का क्षय नहीं यह बात जितनी सच्ची है उतनी ही सच्ची बात है कि प्रमत्त अवस्था दूर न हो तब तक उपयोगयुक्त क्रिया छोड़कर दूसरा ध्यान भी नहीं । श्रीजिनमत में विहित आवश्यकादि क्रियाओं को छोड़कर जो चित्तनिरोधमात्र-स्वरूप ध्यान का अवलम्बन लेते हैं, उनका ध्यान और उनका प्रशम अंतर्निलीन (गुप्त) विषमज्वर की भाँति ध्यान के सिवाय के काल में मिथ्यात्वरुपी प्रकोप को प्राप्त हुए बिना नहीं रहता । जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति की बाते और उसके लिये चित्तनिरोधरुप ध्यान का दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास करते हुए भी आज किसी की सच्ची मुक्ति हुई दिखाई नहीं देती । इसी प्रकार ज्ञायकभाव और द्रव्य द्रष्टि की बातों और उसका अवलम्बन लेने पर भी और यह केवलज्ञान और मोक्ष का साधन है–ऐसा

कहने पर भी मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद में से एक भी दोष वास्तविक रुप में हटा हो-ऐसा देखने को नहीं मिलता । इससे सिद्ध होता है कि केवल चित्त निरोधरुप ध्यान मुक्ति का साधन नहीं बन सकता, परन्तु मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद हटाने वाले मन-वचन-काया के प्रशस्त व्यापार ही क्रमशः प्राप्त दोषों को दूरकर अंत में एक अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान और मोक्ष दिलवाएँ ऐसे अप्रमत्तादि गुणस्थानों की प्राप्ति करवाते हैं । इस काल में और इस क्षेत्र में धृति संहनन आदि के अभाव में यदि केवलज्ञान और मुक्ति है ही नहीं और उसके कारणरुप अप्रमत्त उपरोक्त गुणस्थानकों की विद्यमानता भी नहीं ही है, तो अपनी भूमिका के योग्य आराधना में ही मग्न रहना-द्रढ़ रहना और उससे चलित न होना ही वास्तविक मुक्ति का मार्ग है ।

प्रश्न 164 :– क्या प्रतिक्रमण जरुरी है ?

उत्तर :– छद्मस्थ के लिये प्रमत्त अवस्था में ऊपर की अवस्था ज्ञानिओं ने अंतमुर्हूर्त से अधिक काल तक टिक सके ऐसी नहीं देखी और इसलिये प्रमत्त अवस्था के योग्य धर्मध्यानपोषक क्रियाएँ धर्म की प्राण है–ऐसा उपदेश दिया है । भगवान महावीर के शासन में उत्पन्न जीवों का स्वभाव भी ज्ञानीजनों ने वक्र और जड़ देखा है और वैसा ही कहा है । श्री कल्पसूत्र की वृत्ति में कहा है कि प्रथम तीर्थपति के शासन के साधु ऋजु-जड, बाईस जिनेश्वर के शासन के साधु ऋजु-प्राज्ञ और चरम तीर्थपति के शासन के साधु वक्र और जड़ है । साधुओं के इन भिन्न 2 स्वभावों का पृथक्करण भी प्रतिक्रमण धर्म की उपयोगिता समझाता है । जहाँ जड़ता वहाँ भूलों का होना अवश्यंभावी है । जहाँ भूलें होना संभव हैं, वहाँ भूल के प्रायश्चित्तरूप प्रतिक्रमण की आवश्यकता है । प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के साधु जड़ता में समान होने से उनके लिये सप्रतिक्रमण धर्म का उपदेश दिया गया है । बीच के जिनपतियों के शासन के साधु ऋजु और प्राज्ञ होने के कारण उनके द्वारा भूल होने की संभावनाएँ बहुत कम हैं, इसलिये उनके लिये प्रतिक्रमण निश्चित न कहकर अनिश्चित कहा है । वे प्राज्ञ होने से जब 2 दोष लगता तब 2

समझ जाते और ऋजु होने से उसे स्वीकार कर प्रतिक्रमण द्वारा उस दोष की शुद्धि कर लेते थे । भगवान महावीर के साधु जड़ और वक्र दोनों से उनके लिये दोष का संभव भी अधिक हैं और दोष का स्वीकार भी दुष्कर है । अतः उनके लिये प्रतिक्रमण धर्म निश्चित है । तीन वैद्यों का दृष्टान्त देकर यह बात श्री कल्पसूत्र की वृत्ति में आग्रहपूर्वक समझाई गई है, बस इस प्रकार है–

एक राजा ने भविष्य में भी अपने पुत्र के शरीर में व्याधि न हो–इसके लिये तीन वैद्यों को बुलाया । पहिले वैद्य ने कहा–मेरी औषधि विद्यमान व्याधि को दूर करेगी और व्याधि न होगी तो उसे उत्पन्न करेगी । राजा ने कहा–सोए हुए सर्प को जगाने जैसी तुम्हारी औषधि दूर रखे ।

दूसरे वैद्य ने कहा–मेरी औषधि व्याधि होगी तो उसे दूर करेगी और व्याधि न होगी तो गुण भी नहीं करेगी और दोष भी नहीं करेगी । राजा ने कहा–राख में घी डालने ऐसी तुम्हारी औषधि व्यर्थ है ।

तीसरे वैद्य ने कहा–मेरी औषधि विद्यमान दोष का शमन करेगी और दोष न होगा तो रसायनरूप बनेगी और कांति, चमक, बल और रुप आदि को बढ़ाएगी । राजा ने उसका सम्मान किया और उसकी औषधि द्वारा अपने पुत्र को सदा के लिये निरोगी तथा तुष्टि-पुष्टि वाला बनाया ।

वीर भगवान के वक्र और जड़ साधुओं के लिये प्रतिक्रमण धर्म तीसरे वैद्य की औषधि तुल्य है । वह दोष हों तो उन्हें दूर करता है, न हो तो कांति तुष्टि और पुष्टि की भाँति ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि जीव के गुणों की वृद्धि करता है ।

दोष को रोकने के लिए प्रतिक्रमण के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं ।

जनश्रुति है कि मनुष्यमात्र भूल का पात्र है (टू एरर् इज ह्यूमन्) यही बात शास्त्रकार दूसरे शब्दों में कहते हैं–छद्मस्थमात्र भूल का पात्र है । छद्म अर्थात् आवरण । कर्म के आवरण के नीचे रही हुई आत्मा से भूल न होना आश्चर्य है । भूल होने में आश्चर्य नहीं । चार ज्ञान के धारक,

अनंत-लब्धिनिधान, अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांगी के रचयिता भगवान महावीर के आद्य शिष्य गुरु गौतमस्वामी को भी आनंद श्रावक के प्रश्नों के उत्तर देने में स्खलना हुई थी–शास्त्र इस बात की पुष्टि करते है । भूल मनुष्यमात्र का या छद्मस्थ मात्र का स्वभाव है तो उस भूल का प्रतिकार भी छद्मस्थ मात्र का स्वभाव है तो उस भूल का प्रतिकार भी छद्मस्थमात्र के लिये अनिवार्य है ।

भूलरूपी विष का प्रतिकार अमृत से ही हो सकता है । विष को भी विधिपूर्वक मारकर अमृत बनाया जा सकता है । भूलरुपी विष को मारने की विधि क्या है । और इसे मारने से उत्पन्न होने वाला अमृत कौन सा है ? इन दोनों ही बातों का उत्तर हमें प्रतिक्रमण शब्द में मिल जाता है । प्रतिक्रमणक्रिया भूल रुपी विष को बढ़ने से रोकती है तथा उसे मारकर शुभभाव रुपी विष को बढ़ने से रोकती है तथा उसे मारकर शुभभावरूपी अमृत पैदा करती है और उसके द्वारा क्रिया का पालन न किया जाए तो यह विष मरने के बजाय बढ़ता जाता है और यह बढ़ा हुआ विष भूल करते समय के दोष और उसके विपाक की अपेक्षा शत-सहस्त्र-कोटिगुना अधिक दोष और विपाक देनेवाला बनता है । शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि–

भूल होने के समय जो दोष लगता है वह दोष भूल स्वीकार न की जाए (उसे भूल प्रत्यावर्तन न हो), तो परिणामस्वरूप अनंतगुने दारुण विपाक को देनेवाला है ।[1]

इसलिये भूल होने के साथ ही उसे स्वीकार कर लेना और उससे प्रत्यावर्तन कर लेना धर्मीमात्र का कर्तव्य है ।

अनार्य संस्कृति भी सुनागरिक या उत्तम सद्गृहस्थ (सिविलाइझ्ड मेन) कहलाने का अधिकार उन्हें ही देती है जो अपनी भूल होने के साथ ही **'रेरी सोरी', 'इक्स्क्यूझ मी', 'पार्डन प्लीझ',** दुःख है, क्षमा

1. तथा स्खलितप्रतिपत्तिरिति ।
स्खलितकाले दोषात् अनन्तगुणत्वेन दारुणपरिणामत्वात्तदप्रतिपतेः ।
धर्मबिन्दु अ.5 सूत्र 21

करो, कृपया क्षमा प्रदान करो–आदि शब्द कहकर भूल से पीछे मुड़ते हैं। आर्य संस्कृति को प्राप्त और जीवन में धर्म को सर्वस्व मानने वाले भूल से प्रत्यागमन करने रुपी अपने इस धर्म का पालन न करें यह कैसे हो सकता है ? इसमें भी जैन दर्शन तो अपने अनुयायियों को मुक्तिपथ पर चढ़ाकर शाश्वत सुख के भोक्ता बनाना चाहता है, इसलिये जहाँ तक भूल का संभव है, वहाँ उसके लिये प्रतिक्रमण बताना सहज ही है। प्रतिदिन दोनों संध्या के समय प्रतिक्रमण की क्रिया चतुर्विध संघ के जीवन के साथ बुन डालने वाले और छब्बिह आवस्सयंमि, उज्जुत्तो होई पइदिवसं–छः प्रकार के आवश्यक के प्रति प्रतिदिन उद्यत रहे–ऐसी आज्ञा फरमाने वाला श्री जैनशासन अपने अनुयायिओं का मुक्तिमार्ग के साथ सीधा संबंध जोड़ देता है और दुर्गति-गमन के हेतुओं का समूल उच्छेद कर डालता है।

जो अपने अनुयायिओ को शुष्क अध्यात्म के नाम से दोषों और भूलों से निरन्तर प्रत्यावर्तन का मार्ग नहीं बताते या उसके लिये कोई भी व्यवस्थित योजना अथवा विधान की रचना नहीं करते वे तत्त्वज्ञान अथवा अध्यात्मज्ञान के नाम पर अन्य चाहे जितनी साधनाएँ, क्रियाएँ या प्रक्रियाएँ बताते हो तब भी उन्हें जड़विहीन वृक्ष जैसी या नीव रहित महल जैसी समझें।

प्रश्न 165 :– प्रतिक्रमण का स्वरुप क्या हैं ?

उत्तर :– जैन शासन में प्रतिक्रमण के लिये मुख्य और प्रसिद्ध शब्द मिच्छामि दुक्कड़ है। इसलिये कोई भी भूल होने के साथ ही उसका प्रयोग किया जाता है। उसमें मुझे क्षमा करो या (रेरी सौरी) –मुझे खेद है–आदि शब्द प्रयोग की अपेक्षा बहुत बड़ा अर्थ-भाव निहित है। निर्युक्तिकार भगवान उसका पदभंजन करते हुए कहते हैंः मन से और काया से नम्र बनकर दोषों को दूर करने के लिये मुझ से हुए दुष्कृत को मैं पश्चात्ताप सहित चला डालता हूँ, अर्थात् मेरी भूल से मैं पुनः वैसी भूल न करने के अध्यवसायपूर्वक लौटता हूँ। प्रतिक्रमण का यह सूत्र और उसका उच्चारण तथा उसकी अर्थ गंभीरता जैन शासन के प्रणेता

की परम ज्ञान सम्पन्नता, परम शील सम्पन्नता, परम कारुण्यशीलता और सर्वोत्कृष्ट शासनस्थापककर्ता का सूचक है ।

प्रश्न 166 :– क्या चारित्र का प्राण प्रतिक्रमण है ?

उत्तर :– श्री जिनशासन में सर्वनयसिद्ध आत्मविकास का सार चारित्र है, ज्ञानाभ्यास भी चारित्र के विकासार्थ है और श्रद्धा करना भी चारित्र को दृढ करने हेतु है । ज्ञान से श्रद्धा बढ़ती है, श्रद्धा से चारित्र निर्माण होता है और चारित्र से मोक्ष प्राप्ति होती है । जो ज्ञान श्रद्धा को बढ़ाने वाला नहीं परन्तु बिगाड़ने वाला है वह ज्ञान उपोदय नहीं पर हेय होता है । जो श्रद्धा चारित्र को बढ़ाने वाली नहीं अपितु भ्रष्ट करने वाली है, वह श्रद्धा आदरणीय नहीं परन्तु त्याज्य है । श्रद्धा, ज्ञान या चारित्र आत्मा के मूल गुण हैं । प्रत्येक जीवात्मा में ये तीनों होते है, परन्तु हर समय मोक्ष के साधक हों–ऐसा नहीं होता । सम्यक् श्रुतज्ञान की भावपूर्वक प्राप्ति नहीं होती वहाँ तक वे प्रायः मोक्ष के साधक नहीं परन्तु बाधक ही होते हैं । मोक्ष साधक चारित्र पर क्योंकि प्रत्येक वर्तन के पीछे श्रद्धा और प्रत्येक श्रद्धा के पीछे ज्ञान आवश्यक होता है । मोक्षसाधक वर्तन चारित्र है, इसलिये वह भी श्रद्धा और ज्ञान की अपेक्षा रखता है । मोक्षसाधक चारित्र को पुष्ट करने वाली श्रद्धा और उस श्रद्धा को पुष्ट करने वाला ज्ञान अनुक्रम से सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं ।

एक भी पद या एक भी वाक्य मोक्ष साधक चारित्र गुण की पुष्टि करनेवाला हो तो वह श्री जिनागम का अंश है, क्योंकि श्री जिनागम चारित्रगुण की पुष्टि और चारित्रगुण की वृद्धि द्वारा मोक्ष के लिये निर्मित है ।

किसी भी तीर्थंकर के तीर्थ में कोई भी मुनि दीक्षा अंगीकार करके श्रुतज्ञान के पारगामी हुए ऐसा बताना हो तब शास्त्रकार निम्न लिखित शब्दों में उल्लेख करते हैं –

सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाईः अहिज्जइ । सामाइयाइं चौद्दसपुव्वाई अहिज्जइ ।

सामायिकादि ग्यारह अंगों को पढ़ते हैं अथवा सामायिकादि चौदह पूर्वों-बारह अंगों को पढ़ते हैं ।

यहाँ शास्त्रकार सामायिक से लगाकर ग्यारह अंग या बारह अंगों का अध्ययन बताते हैं । इनमें प्रथम सामायिक ही क्यों ? श्री जिनमत में सामायिक सावद्ययोग की निवृत्तिरूप और निरवद्य योग की प्रवृत्तिरूप है । सावद्ययोग से विरमण करना और निरवद्ययोगों में प्रवृत्त होना तथा परिणाम में स्वरूप में स्थिर होना चारित्रगुण का लक्षण है । चारित्रगुण के इस मर्म को नहीं समझने वाले कई लोग चारित्र के नाम सत्प्रवृत्तिओं का विरोध करते हैं, तो कई मनःकल्पित असत्प्रवृत्तिओं का चारित्रगुण का उपनाम देते हैं । प्रथमवर्ग शुष्क अध्यात्मवादियों का है, जब कि दूसरा वर्ग परलोक की श्रद्धा से शून्य और शास्त्रअध्ययन से निरपेक्ष वर्ग का है ।

शुष्क अध्यात्मवादी स्वरूपरमणता या आत्मगुण में स्थिरता को ही एक चारित्र मानते हैं परन्तु वह किसे और किस गुणस्थानक में होता है ? इसका विवेक न होने के कारण न स्वरूपरमणता प्राप्त कर सकते हैं न सावद्ययोग की विरति कर सकते हैं । वे उभय से भ्रष्ट होते हैं । संपूर्ण स्वरूपरमणता या आत्मगुण स्थिरता सिद्ध के जीवों के सिवाय अन्य को नहीं हो सकती । केवल-ज्ञानियों के संबंध में भी असिद्धत्वरूप औदयिकभाव शास्त्रकारों ने माना है और उतना स्वरूपरमण उनके लिये भी कम है । ऐसी स्थिति में स्वरूपरमणता को ही चारित्र का एक लक्षण मानना-अज्ञान और मोह का विलास है ।

इसी प्रकार कई चारित्र का अर्थ सभ्यता बताते हैं और सभ्यता अर्थात् मनुष्य का मनुष्य के साथ योग्य व्यवहार रखना, नीति का पालन करना, सत्य बोलना किसी के साथ छल न करना, पड़ोसी को चाहना, आदि-2 मानते हैं, परन्तु यह चारित्र नहीं, पर नीति है, क्योंकि उसके पीछे प्रायः इह-लौकिक स्वार्थभावना रही हुई होती है । नीति यदि मोक्ष के आदर्श का अनुसरण करने वाली हो तो वह आवश्यक है, परन्तु उससे निरपेक्ष मात्र सांसारिक हेतु तक ही सीमित हो तो उसका विशेष

महत्त्व नहीं । चारित्रगुण इससे बहुत ऊँचा है । उसके पीछे इहलोक साधने का जरा भी भाव नहीं । वह केवल मनुष्यजाति की चिन्ता करके अन्य सकल सृष्टि के जीवों के प्रति उपेक्षा या निर्दयता बताने वाली संकुचित मनोदशा नहीं है । उसके पीछे अपने या दूसरे के ऐहिक या देहिक उपद्रवों का ही स्वल्प काल के लिये अन्त लाने की मनोवृत्ति नहीं, किन्तु स्वपर उभय के सार्वत्रिक और सार्वदिक शारीरिक-मानसिक-सर्व प्रकार के दुःखों का अंत लाने की सर्वोत्कृष्ट भावना है और उस भावना की सिद्धि सावद्ययोग के विराम से और निरवद्ययोग के आसेवन से ही संभव है ।

सावद्ययोग अर्थात् पापमय व्यापार । पाप अठारह प्रकार से होते हैं । उनमें से ऐक भी पाप का मन-वचन-काया से न सेवन करना, न सेवन करवाना और न सेवन करने वाले का अनुमोदन करना-इस प्रकार की जीवन पर्यन्त अथवा निश्चित काल की प्रतिज्ञा-सामायिक है और यह वास्तविक चारित्र है । यह चारित्र-पालन इस द्वादशांगी का सार है, और उससे मुक्ति निकट आती है । ऐसे चारित्रगुण का अभ्यास जीव की सद्गति का मूल है और वह मात्र मनुष्यसृष्टि ही नहीं परन्तु सचराचर विश्व के सभी जीवों की पीड़ा हरण करने का अनुपम साधन है । स्वरूप-रमणता या आत्मगुणों में स्थिरता तक पहुँचाने के लिये यह चारित्र परम द्वार है और यह परम कसौटी है । जो इस कसौटी में से पार उतरने के लिये आनाकानी करते हैं अथवा इसके प्रति अरुचि रखते हैं, वे चारित्रगुण से हजारों कोस दूर हैं । इतना ही नहीं परन्तु चारित्रगुण के पालन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली सद्गति के अधिकारी बनने के लिये सर्वथा भाग्यहीन है ।

सावद्य व्यापारों का प्रत्याख्यान और निरवद्य व्यापारों का आसेवन ही चारित्र का एक लक्षण हो तो वह चारित्र को टिकनेवाला या बढ़ानेवाला, उत्पादन या सुधारक सक्रिया के सिवाय और कोई नहीं यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है । इसीलिये शास्त्रकारों ने चारित्र का दूसरा लक्षण समिति गुप्ति से पवित्रित चरित्र भी कहा है । काया की सम्यक् प्रवृत्ति,

समितियाँ हैं और काया, वचन तथा मन इन तीनों का सम्यग् (प्रवर्तन-निवर्तनरुप) निग्रहगुप्तियाँ हैं । इनकी संख्या क्रमशः पाँच और तीन मिलकर कुल आठ है । इन आठ प्रकार की क्रियाओं को प्रवचन की माता और द्वादशांगरूप जैन शासन की जनेता शास्त्रकारों ने बताया है ।

किल्ला मरम्मत से ही टिकता है उसी प्रकार क्रियारूपी किल्ला प्रतिक्रमण रूपी मरम्मत से ही टिकता है । क्रियारूपी किल्ले में पड़े हुए छिद्रों या खड्डों के लिये मरम्मत का काम प्रतिक्रमण है । इस प्रकार चारित्र का प्राण क्रिया है और क्रिया का प्राण प्रतिक्रमण है ।

प्रश्न 167 :– प्रतिक्रमण छह आवश्यकमय है और उनमें प्रथम सामायिक लेते समय मन-वचन-काया से सावद्य व्यापार न करने, न करवाने और न अनुमोदन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है, फिर भी मन तो वश में नहीं रहता-तो प्रतिज्ञा का पालन कहाँ रहा ?

उत्तर :– जैन शासन में सामायिक आदि प्रत्येक व्रत की प्रतिज्ञा के 147 विकल्प माने गए हैं जो निम्न प्रकार से हैं :–

(1) मन से, वचन से और काया से (एक त्रिकसंयोगी)

(2) मन से, वचन से ।)

(3) मन से, काया से ।) (तीन द्विकसंयोगी)

(4) वचन से काया से ।)

(5) मन से ।)

(6) वचन से ।) **(तीन असंयोगी)**

(7) काया से ।)

इस प्रकार (एक) त्रिकसंयोगी, (तीन) द्विकसंयोगी और (तीन) असंयोगी-ये कुल सात विकल्प, तीन करण के और इसी प्रकार कुल सात विकल्प (करना, करवाना और अनुमोदन करना) इन तीन योग के–इन दो का गुणन करने से 7 x 7 = 49 और उसे तीन काल से गुणन करने पर 49 x 3 = 147 विकल्प होते हैं । इन में लिये हुए कुछ विकल्पों का पालन हो और अन्य विकल्पों का पालन न हो तब भी प्रतिज्ञा का

सर्वांश में भंग होना नहीं गिना जाता । इसमें जो मानसिक भंग होता है उसे अतिक्रम, व्यतिक्रम अथवा अतिचार माना है, पर अनाचार नहीं कहा ।

अतिक्रमादि दोषों का निंदा, गर्हा, आलोचना और प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धिकरण हो सकता है और इस प्रकार प्रतिज्ञा का निर्वहन हो सकता है । दोषपूर्ण करने की अपेक्षा न करना अच्छा है यह वचन जैन शासन में उत्सूत्र वचन कहा गया है । करना तो शुद्ध ही करना अन्यथा करना ही नहीं–यह वचन शास्त्रकारों को मान्य नहीं, क्योंकि कोई भी क्रिया विधि के राग और अविधि के पश्चात्तापपूर्वक के अभ्यास से ही शुद्ध होती है । अभ्यास के प्रारंभ काल में भूल नहीं हो–ऐसा अज्ञानी मानते हैं । भूलमय अनुष्ठान करते करते ही भूलरहित अनुष्ठान होते हैं । सातिचार धर्म ही निरतिचार धर्म का कारण बनता है । जितने भी जीव आज तक मोक्ष में गए है वे इस प्रकार सातिचार धर्म की आराधना करके निरतिचार धर्म के पालक बने हैं । सांसारिक कलाओं के अभ्यास में भी यही नियम है । धर्म कला का अभ्यास इसमें अपवाद नहीं हो सकता ।

प्रश्न 168 :– पाप का प्रतिक्रमण करके पुनः उस पाप का सेवन करना क्या यह मायाचार नहीं है ?

उत्तार :– पाप का प्रतिक्रमण करके पुनः उस पाप का सेवन करना इतने मात्र से मायाचार नहीं है, परन्तु पुनः उस पाप का उस भाव से सेवन करना मायाचार[1] है । प्रतिक्रमण करनेवाला वर्ग पाप से मुक्त होने के लिये प्रतिक्रमण करता है । इसलिये उसका भाव पुनः पाप नहीं करने का है । पुनः पाप करने का भाव होते हुए भी पुनः पाप होता है, उसका पुनः प्रतिक्रमण करता है । इस प्रकार बार 2 प्रतिक्रमण करने से उसे अनुबंध पाप करने का नहीं परन्तु पाप न करने का होता है ।

1. उस भाव से अर्थात् पुनः करने के भाव से अथवा पुनः पाप करूँगा और पुनः मिथ्या दुष्कृत दूँगा-ऐसे भाव है, इसलिये कहा है कि :–
मिथ्या दुक्कड देइ पातिक, ते भावे जे सेवे रे;
आवश्यक साखे ते परगट, मायामोसने सेवे रे ।
उ. श्री यशोविजयजी कृत–साढ़े तीन सौ गाथाओं का स्तवन ढाल दूसरी गाथा 17.

पाप न करने का अनुबंध ही उसे एक समय सर्वथा पाप न करने की श्रेणी तक पहुँचाता है । इसलिये श्री जिन शासन में जहाँ तक जीव पाप से रहित नहीं बनता, वहां तक इसके लिये पाप का प्रतिक्रमण अवश्य कर्तव्य बताया गया है । इसके लिये कहा है कि :

मूलपदे पक्किमणु भारव्यूं, पापतणुं अणकरवुं रे,
शक्तिभाव तणे अभ्यासे, ते जस अर्थे वरवुं रे ।

350 गाथाओं का स्तवन – ढाल 2 – गाथा 18

पाप को नहीं करने रूपी मुख्य प्रतिक्रमण, शक्ति अनुसार और भाव के अनुसार अभ्यास करते 2 सिद्ध होता है ।

अथवा कहा है कि :–

पडिक्कमणुं मूलपदे कह्युं, अणकरवुं पाप नुं जेह मेरे लाल;
अपवादे तेहनुं हेतु अे, अनुबंध ते शम-रस-मेह मेरे लाल ।

प्रतिक्रमण गर्भ हेतु स्वाध्याय – ढाल 6 – गाथा 3

मुख्यरुप से पाप न करना ही प्रतिक्रमण है । अपवाद रूप से पाप न करने का अनुबंध डालनेवाला प्रतिक्रमण भी मुख्य प्रतिक्रमण का हेतु है क्योंकि (पाप न करने का) अनुबंध ही यहाँ समतारूपी रस बरसाने वाला मेघ है ।

प्रश्न 169 :– प्रतिक्रमण भूतकाल के पाप का ही हो सकता है, परन्तु वर्तमान काल और अनागत काल के पाप का कैसे हो सकता है ?

उत्तर :– प्रतिक्रमण का हेतु अशुभ योग से निवृत्ति है । इसलिये जैसे अतीतकाल के दोष का प्रतिक्रमण निंदा द्वारा होता है उसी प्रकार वर्तमान काल के दोष का प्रतिक्रमण संवर द्वारा और अनागत कालके दोष का प्रतिक्रमण पच्चक्खाण द्वारा हो सकता है, क्योंकि संवर और पच्चक्खाण उभय में अशुभयोग की निवृत्ति प्रधान है ।

प्रश्न 170 :– प्रतिक्रमण के समय सामायिक लेने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :– शास्त्र में सामायिक के चार प्रकार बताए गए हैं:–

सम्यक्त्व-सामायिक, श्रुत-सामायिक, देशविरति-सामायिक और सर्वविरति-सामायिक । प्रतिक्रमण करने वाले में सम्यक्त्व-सामायिक और श्रुत-सामायिक संभव होती है । सम्यक्त्व-सामायिक अर्थात् मिथ्यात्व-मूल का अपगम और उससे उत्पन्न होती जिनवचन में श्रद्धा । श्रुत-सामायिक अर्थात् जिनोक्ततत्त्वों का संक्षिप्त या विस्तृत ज्ञान और उससे उत्पन्न अविपरीत बोध । देशविरति सामायिक अर्थात् पाप की आंशिक निवृत्तिरूप प्रयत्न । सर्वविरति सामायिक अर्थात् पाप से सर्वथा निवृत्ति करने का प्रयत्न । इन चारों प्रकार के सामायिक से च्युत होनेवाला औदयिक भाव है । इस औदयिक भाव में से अर्थात् परभाव में से हटकर पुनः सामायिकरूपी क्षायोपशमिक भाव अर्थात् आत्मभाव में जाना-प्रतिक्रमण है । इस पर प्रतिक्रमण के समय सामायिक लेने की आवश्यकता क्यों है-यह स्पष्ट हो जाता है । सामायिक साध्य है और प्रतिक्रमण साधन है । इसलिये सामायिक रूपी साध्य को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रतिक्रमण की क्रिया करनी चाहिये–ऐसा शास्त्रकारों का विधान है ।

प्रश्न 171 :– जिससे अतिचार लगें वहीं प्रतिक्रमण करे, दूसरे के लिये प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :– प्रतिक्रमण सम्यग्दर्शन में लगे हुए अतिचार, देशविरति धर्म में लगे हुए अतिचार और सर्वविरति धर्म में लगे हुए अतिचार की शुद्धि हेतु योजित है तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति के अधिकारी अन्य जीवों के भी अपने गुणस्थान के योग्य वर्तन न करने के कारण लगे हुए अतिचार की शुद्धि करने हेतु हैं । इसलिये दोष की शुद्धि के इच्छुक सभी आत्माओं के लिये प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता है ।

आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण करने के विशेष प्रयोजन बताते हुए कहा है कि :–

(प्रसंगवशात्) निषिद्ध का आचरण करने से, विहित का आचरण न करने से, जो वस्तु रीति से श्रद्धेय होती है, उस के संबंध में अश्रद्धा करने से तथा मार्ग से विरुद्ध प्ररुपण करने से जो दोष लगे हो उनका प्रतिक्रमण करना होता है ।[1]

1. पडिसिद्धाणं करणे किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं ।
   असद्दहणे य तहा विवरीयपरुवणाए ।।

ये चारों वस्तुएँ उन्नति के अर्थी जनमात्र के लिये लागू होती हैं इसलिये इन चारों दोषों का जिसमें प्रतिक्रमण किया जाता है, वह प्रतिक्रमण सभी आत्मार्थी जीव के लिये उपकारी है ।

सुविहित शिरोमणि आचार्यपुरंदर श्री हरिभद्रसूरि फरमात् हैं कि:–

निषिद्ध का आसेवन आदि जिस कारण से प्रतिक्रमण के विषयरुप कहे गए हैं, उस कारण यह प्रतिक्रमण भावशुद्धि का अन्त:करण की निर्मलता का परम प्रकृष्टकारण हैं ।[2] कारण यह है कि इनमें से एक 2 दोष भी यदि उसमें से प्रत्यावर्तन न होतो अनंतगुण पर्यन्त दारुण विपाक देने वाला बनता है ।

प्रश्न 172 :– प्रतिक्रमण की क्रिया बहुत लम्बी और उकताने वाली होती है । उसके सूत्रों का अर्थ जो जानते नहीं उनके आगे वे सूत्र बोल लेने से किसी भी प्रकार का भाव जागृत नहीं होता न किसी भी प्रकार का विशिष्ट प्रयोजन साधता है, तो उसके स्थान पर सामायिक या स्वाध्याय करे तो क्या बुरा है ?

उत्तर :– प्रतिक्रमण की क्रिया बहुत लम्बी और उकसानेवाली है–ऐसा कहने वाला या तो धर्म के लिये क्रिया की आवश्यकता बिल्कुल ही नहीं मानता हो अथवा मात्र बातें करने से ही धर्म सिद्ध हो सकती है–ऐसी गलत श्रद्धा रखता हो परन्तु दोनों प्रकार की ये मान्यताएँ ठीक नहीं हैं । धर्म का प्राण क्रिया है, और क्रिया के बिना कभी भी मन, वचन या काया स्थिर रह नहीं सकते–जैसा जिसे ज्ञान है, उसके मन प्रतिक्रमण की क्रिया सर्वथा संक्षिप्त और अतिरसपूर्ण है । साथ ही दोनों संध्याओं में यह कर्तव्य होने से तथा उस समय लौकिक कार्य (लोकस्वभाव से ही) न किये जाने से निरर्थक जाता हुआ काल सार्थक कर लेने का भी वह अपूर्व उपाय है । इसी प्रकार ज्ञानाभ्यास के लिये भी वह काल अस्वाध्याय का है तथा अकाल में ज्ञानाभ्यास करने से उल्टा अनर्थ होता है ।

2. निषिद्धासेवनादि यद्विषयोऽस्य प्रकीर्तितः ।
तदेतद्भावसंशुद्धे कारणं परमं मतम् ॥ –योगबिन्दु गाथा-400

इसलिये प्रमाद में जाते हुए उस काल को ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि हो इस प्रकार व्यतीत करने की अपूर्व चाबी भी उसमें मौजूद है । प्रतिक्रमण जैसी संक्षिप्त और संध्यासमय की दो घटिकाओं में पूर्ण होनेवाली क्रिया को लंबी और उकताने वाली कहना जीवन के प्रमादरूपी कट्टर शत्रु को पुष्टि देनेवाला अज्ञानता पूर्ण कथन है ।

प्रतिक्रमण के सूत्र बहुत संक्षिप्त हैं, उनके शब्दार्थ या भावार्थ न जानने वाले भी उनका ऐदंपर्यार्थ न समझ सके-ऐसी बात नहीं हैं । पाप से प्रत्यावर्तन करना प्रतिक्रमण का ऐदंपर्यार्थ है । पाप में प्रवृत्ति क्यों ? `अनादि अभ्यास से'–अनुभव सिद्ध है । उस पाप और उससे पीछे मुड़ने की क्रिया प्रतिक्रमण है ऐसा रहस्यार्थ सभी की समझ में आ सकने योग्य है । इस अर्थ को ध्यान में रखकर जो प्रतिक्रमण की क्रिया करते हैं वे सूत्र के शब्दों और उसके अर्थ न जानते हो तब भी उसे जाननेवाले के मुख से सुनने से अथवा उसे जानने वाले के ज्ञान पर श्रद्धा रख कर स्वमुख से बोलने से भी अवश्य शुभभाव पा सकते हैं । इस बात की पुष्टि अध्यात्मकल्पद्रुम के रचयिता सहस्त्रावधानी श्री मुनिसुन्दरसूरिजी ने निम्न लिखित शब्दों में की है :–

उन व्यक्तियों को धन्य है जो स्वयं ज्ञानी नहीं । श्रद्धा से शुद्ध अंतः– करणवाले, पर-व्यक्ति के उपदेश का लेश (अंश) प्राप्त कर, कष्ट साध्य अनुष्ठानों के प्रति आदरबद्ध रहते हैं ।

कई आगम के पाठी होते हुए और आगमों की पुस्तकों को-उनके अर्थ को अपने पास धारण करते हुए भी इह-लोक और परलोक में हितकर कर्मों के विषय में केवल आलसी होते हैं । परलोक का हनन करने वाले ऐसे उन लोगों का भविष्य कैसा होगा ?[1]

यहाँ दूसरे के उपदेश से भी सत्कार्य करने वाले और स्वयं अनपढ़ होने से उसके विशेष अर्थ न जानने वाले व्यक्तियों को भी श्री

1. धध्याः केऽप्यनधीतिनोऽपि सदनुष्ठानेषु बद्धादरा,
दुःसाध्येषु परपोदेशलवतः श्रद्धानशुद्धाशयाः ।अध्यात्मकल्पद्रुम अधिकार 8 श्लोक 7

मुनिसुन्दरसूरिजी महाराज धन्य कहते हैं और पढ़े हुए आलसी को भी परलोक-हित का हनन करने वाले कहते हैं क्योंकि क्रिया सुगति का हेतु है–मात्र ज्ञान नहीं–ऐसा वे गीतार्थ दृष्टि से जानते हैं । क्रिया में जितना ज्ञान मिश्रित हो उतना दूध में शक्कर मिश्रण होने जैसा है, परन्तु शक्कर के अभाव में दूध को भी दुध मानकर न पीना ऐसी बात लोक में कोई नहीं कहता तो लोकोत्तर शासन में सूत्र का अर्थ न जानने मात्र से सूत्रानुसारी क्रिया के सम्बन्ध में अप्रमत्त रहने वाले का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता–ऐसा कौन कहेगा ? वे ही कहेंगे जो सूत्र की मंत्रमयता और उनके रचयिताओं की परम आप्तता को समझते न हों । आप्त पुरुषों द्वारा रचित सूत्र मंत्रमय होते हैं और उनसे मिथ्यात्वमोहनीय आदि पापकर्म की दुष्ट प्रकृतिओं का विष समूल नष्ट होता है । ऐसा जानने और मानने वाले प्रतिक्रमण की क्रिया के सूत्रों का विधिपूर्वक उच्चारण और श्रवण (तथाविध अर्थ न जानते हुए भी) एकांत कल्याण करनेवाला है ऐसी श्रद्धा में से कभी भी चलित नहीं होते ।

प्रश्न 173 :– प्रतिक्रमण की क्रिया में चतुर्विंशति-स्तव, गुरुवंदन, कायोत्सर्ग और पच्चक्खाण की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :– प्रतिक्रमण जैसे सामायिक का अंग है, उसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तवादि भी सामायिक के अंग हैं । सामायिकरुपी साध्य की सिद्धि हेतु जितनी आवश्यकता प्रतिक्रमण रुपी साधन की है उतनी ही आवश्यकता चतुर्विंशति स्तव आदि की है । दूसरी तरह से कहें तो चतुर्विंशति स्तव आदि सामायिक के ही भेद हैं इसलिये सामायिक से भिन्न नहीं हैं । अर्थात् परस्पर साध्य साधनभावरूप में रहे हुए हैं ।

जिस प्रकार सामायिक का साधन चतुर्विंशति-स्तवादि है, उसी प्रकार चतुर्विंशति-स्तवादि का साधन सामायिक है, अथवा गुरुवंदन है, अथवा प्रतिक्रमण है, अथवा कायोत्सर्ग है अथवा पच्चक्खाण है । पच्चक्खाण से जिस प्रकार समभाव लक्षण सामायिक की वृद्धि होती है, उसी प्रकार सामायिक से भी आश्रवनिरोधरुप अथवा तृष्णाछेदरुप पच्चक्खाण-गुण वृद्धि होती है अथवा सामायिक से जिस प्रकार कार्यात्सर्ग

अर्थात् काया पर से ममता छूटकर समता प्राप्त होती है उसी प्रकार कायोत्सर्ग-काया के प्रति ममत्व का–त्याग–भी समभावरूप सामायिक की ही पुष्टि करता है । इसी तरह त्रिकालविषयक सावद्य योग की निवृत्तिरूप प्रतिक्रमण जैसे सामायिक से सिद्ध होता है वैसे ही साक्षात् सावद्ययोग की निवृत्ति के पच्चक्खाणरूपी सामायिक से प्रतिक्रमण की पुष्टि होती है । समभाव लक्षण सामायिक जैसे समभाव प्राप्त सुगुरु की आज्ञा के पालनरुप भक्ति का प्रयोजक है उसी प्रकार समभाव प्राप्त सुगुरु का वंदन रूप विनय भी समभाव रूप सामायिक गुण को विकसित करने वाला है । इस प्रकार छहों आवश्यक परस्पर एक दूसरे के साधक है अतः वे छहों एकत्रित रूप से चारित्र गुण की पुष्टि करते हैं अथवा चारित्र जिसका एक विभाग है ऐसे (पंचाचारमय) पंचविध मुक्तिमार्ग की उसके द्वारा आराधना होती है, श्री जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट मुक्तिमार्ग पंचाचार का पालनस्वरूप है, क्योंकि आत्मा के मुख्य गुण पांच हैं । इन पांचो का विकास करने वाले आचारों के परिपूर्ण पालन बिना आत्मगुणों के संपूर्ण लाभरूप मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती ।

सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव आदि छहों आवश्यकों से आत्मगुणों का विकास करने वाले पाँचो आचारों की शुद्धि कैसे होती है ? इसका वर्णन करते हुए शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि :–

सावद्य योग के वर्जन और निरवद्य योगों के सेवन स्वरूप सामायिक द्वारा चारित्राचार की शुद्धि होती है ।•

जिनेश्वरों के अद्‌भुत् गुणों के उत्कीर्तन स्वरूप चतुर्विंशति स्तव द्वारा दर्शनाचार की शुद्धि होती है ।

ज्ञानादि गुणों से युक्त गुरुओं को विधिपूर्वक वंदन करने से ज्ञानाचारादि आचारों की शुद्धि होती है ।

ज्ञानादि गुणों में हुई स्खलनाओं की विधिपूर्वक निंदादि करनेरूप प्रतिक्रमण द्वारा ज्ञानादि आचारों की शुद्धि होती है ।

• चास्तिस्स विसोही कीरइ सामाइएण किल इहयं ।
सावज्जेयरजोगाण वज्जणा सेवणत्तणओ ।।

इत्यादि चतुःशरण–प्रकीर्णक गाथा 2 थी 7

प्रतिक्रमण से शुद्ध नहीं बने हुए चारित्रादि के अतिचारों की व्रणचिकित्सास्वरूप कायोत्सर्ग द्वारा शुद्धि होती है और उससे चारित्रादि आचारों की शुद्धि होती है ।

मूल उत्तरगुणों को धारण करनेरुप पच्चक्खाण द्वारा तपाचार की शुद्धि होती है ।

तथा सामायिकादि सर्व आवश्यकों द्वारा वीर्याचार की विशुद्धि होती है ।

इस प्रकार छहों आवश्यक पाँचों प्रकार के आचार की विशुद्धि करते हैं । पंचाचार का पालन ही सच्चे मुक्तिमार्ग की आराधना है । प्रतिक्रमण की क्रिया को तृतीय वैद्य के औषधरुप (अर्थात् दोष हो तो उसे दूर करे और न हो तो ऊपर से गुण करे) उपमा शास्त्रकारों ने दी है वह इससे सार्थक होती है ।

प्रतिक्रमण द्वारा चारित्रादि आचारों में लगे हुए दोष दूर होते हैं और आत्मा के ज्ञान, दर्शन, वीर्यादि गुणों की पुष्टि होती है । प्रतिक्रमण रूपी व्यायाम आत्मगुणों की पुष्टि करने के कार्य की सिद्धि का अनन्य और अनुपम उपाय होने से प्रत्येक तीर्थपति के शासन में विहित हुआ है–यह बात प्रत्येक तीर्थपतिओं के मुनिओं के वर्णनों में शास्त्रकारों द्वारा वर्णित है । ऐसे दो-चार वर्णन यहाँ देने से उस विषय की प्रतीति दृढ होगी ।

(1) श्री महावीर भगवान का जीव नयसार के भव में सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् तीसरे भव में भी ऋषभदेव स्वामी के पौत्र और भरत चक्रवर्ती के पुत्र मरीची के रुप में उत्पन्न हुआ । उसने श्री ऋषभदेव स्वामी के पास दीक्षा ली और सामायिक आदि 11 अंगों का अभ्यास किया–यह बात बताते समय निर्युक्तिकार भगवान श्री भद्रबाहुस्वामीजी आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति में फरमाते हैं कि–

मरिई वि सामिपासे विहरइ तवसंजमसमग्गो ।
सामाइयमाईयं इक्कारसमाउ जाव अंगाउ ।।
उज्जुत्तो भक्तिगओ अहिज्जिओ सो गुरुसगासे ।।

आ.नि.गाथा 36-37

तप और संयम से सहित मरीचि, स्वामी के साथ विचरण करते हैं । उद्यमी और भक्तिमान् ऐसे वे गुरु के पास सामायिक से लगाकर ग्यारह अंग पर्यन्त पढे ।

(2) ज्ञाताधर्मकथा नामक छठे अंग में निम्न लिखित उल्लेख है: शैकलज्ञात नामक पाँचवे अध्ययन में कहा है कि :–

(क) तत्पश्चात् वे थावच्चापुत्र श्री नेमिनाथ स्वामी के तथा प्रकार के गुण विशिष्ट स्थविरों के पास सामायिकादि चौदह पर्वों का अभ्यास करते हैं ।

(ख) – – – उसके बाद मुंड होकर दीक्षा अंगीकार करके शुक नामक महर्षि सामायिक से लगाकर चौदह पूर्वों का अध्ययन करते हैं ।

(ग) शैलक नामक राजा भी शुक नामक महर्षि के पास धर्म श्रवण कर दीक्षा अंगीकार करते हैं तथा सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अभ्यास करते हैं ।

(घ) तेतली ज्ञात नामक चौदहवें अध्ययन में निम्न लिखित उल्लेख है :–

उस समय तेतली नामक मंत्रीश्वर को शुभ परिणाम के योग से जातिस्मरण ज्ञान हुआ । जातिस्मरण ज्ञान द्वारा अपना पूर्व भव जानकर स्वयमेव दीक्षा अंगीकार की । (फिर) प्रमदवन नामक उद्यान में सुखपूर्वक बैठकर चिंतन करते 2 पूर्व पठित सामायिकादि चौदह पूर्व स्वयमेव स्मृति पथ में आए ।

(ङ) नंदीफल ज्ञात नामक पंद्रहवे अध्ययन में अधोलिखित उल्ल`ख है :–

धन सार्थवाह ने धर्म का श्रवण कर अपने ज्येष्ठ पुत्र को परिवार का बोझ सुपुर्द कर प्रव्रज्या अंगीकार की और सामायिकादि ग्यारह अंगों का अभ्यास किया ।

(च) अमरकंका ज्ञातनामक सोलहवे अध्ययन में निम्न लिखित उल्लेख है :–

उस समय युधिष्ठिर आदि पाँचों अणगारों ने सामायिकादि चौदह

पूर्वों का अभ्यास किया – – – तत्पश्चात् द्रौपदी नामक आर्या, सुव्रता नामक आर्या के पास सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करती है ।

(छ) ज्ञाताधर्म के दूसरे श्रुतस्कंध में श्री पार्श्वनाथ स्वामी के समय का उल्लेख निम्न प्रकार से हैं :–

उसके पश्चात् श्री काली नामक आर्या श्रीमती पुष्पचूला नामक आर्या के पास सामायिकादि 11 अंगों का अध्ययन करती है ।

(3) भगवती सूत्र में श्री महाबल नामक राजकुमार का निम्न प्रकार से अधिकार है:– (तेहरवें जिनपति श्री विमलनाथ स्वामी के शासन में वे हुए हैं)

उसके बाद श्री महाबल श्री धर्मघोष, नामक अणगार के पास सामायिकादि चौदह पूर्व पढते हैं ।

(4) भगवती सूत्र के द्वितीय शतक के प्रथम उद्देश में श्री स्कंदचरित का वर्णन निम्न प्रकार से है :–

वे स्कंदक नामक अणगार श्रमण भगवान महावीर के तथा रूप स्थविरों के पास सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन करते हैं ।

इस प्रकार श्री ऋषभदेव स्वामी से लगाकर श्री वर्धमान स्वामी पर्यन्त सभी तीर्थपतिओं के साधु-सामायिक जिसकी आदि में है–ऐसे ग्यारह अंगों और चौदह पूर्वों का नियमित अभ्यास करते हैं । यह इस बात का सूचक है कि प्रत्येक मुनि के लिये सामायिकादि आवश्यकों का अध्ययन अनिवार्य है, कारण यह है कि पंचाचार की शुद्धि का वह अनन्य साधन है । ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि आत्मा के शाश्वत गुण हैं और उसे मलिन करनेवाले कर्म का आवरण अनादिकालीन है । उस आवरण को हटाने तथा मलिनता दूर करने का उपाय भी शाश्वत चाहिये इसलिये प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में वह होता ही है । इस प्रकार आवश्यक और प्रतिक्रमण क्रिया की उपयोगिता तीर्थंकर देवों द्वारा स्थापित की हुई है और चतुर्विध संघ द्वारा प्रतिदिन की सामाचारी में वह मान्यता प्राप्त है । प्रकृति का भी वह क्रम हैं । मुमुक्षु आत्माओं के लिये शीघ्र मोक्ष प्राप्त करने हेतु वह प्रतिदिन का व्यायाम है । शारीरिक व्यायाम जैसे शरीर

को तन्दुरुस्ती प्रदान करता है, वैसे ही यह आत्मिक व्यायाम आत्मा को भाव तन्दुरुस्ती प्रदान करता है । कहा है कि–सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने में समर्थ जो शुभ क्रिया गुर्वादि[1] के समक्ष की जाती है वह सम्यग् व्यायाम है ।

प्रश्न 174 :– एक प्रतिक्रमण के बजाय पांच प्रतिक्रमण क्यों ?

उत्तर :– प्रतिक्रमण दोष शुद्धि और गुण पुष्टि की क्रिया है । दोष अर्थात् कचरा आत्मारुपी घर के अन्दर कर्म के संबंध से दोषरुपी कचरा निरन्तर एकत्रित होता है । उसे प्रतिपक्ष, प्रतिचातुर्मास और प्रत्येक संवत्सरी पर अधिक प्रयत्नपूर्वक साफ करने से ही वह दूर हो सकता है । इसलिये शास्त्रकारों ने दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक इस प्रकार पाँच प्रतिक्रमणों का विधान किया है, इनमें प्रथम दैवसिक प्रतिक्रमण फरमाने का कारण यह है कि तीर्थ की स्थापना दिन में होती है और तीर्थ की स्थापना के प्रारम्भ से ही प्रतिक्रमण करना होता है । कहा है कि :–

यहाँ तीर्थ दिन प्रधान है, अर्थात् तीर्थ की उत्पत्ति होती है अतः प्रथम प्रतिक्रमण भी दैवसिक ही होता है[2] ।

तीर्थ-स्थापना होने के दिन से ही श्री गणधर भगवंत भी नियमित प्रतिक्रमण करते हैं । इस प्रकार जिस दिन शासन की स्थापना होती है, उसी दिन से प्रतिक्रमण की आवश्यकता होती है । इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि आवश्यक सूत्र स्वयं गणधर रचित है–अन्य रचित नहीं ।

प्रश्न 175 :– प्रतिक्रमण तो क्रिया रुप है, इसलिये उससे अध्यात्म की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर :– अध्यात्म का बाह्य स्वरुप समझने वाले को ही यह शंका होती है । अध्यात्म का वास्तविक स्वरुप समझने वाले को तो प्रतिक्रमण की सम्पूर्ण क्रिया अध्यात्मस्वरूप ही लगती है । अध्यात्म

1. गुर्वादिसमीपाध्यासिनः शुभा या क्रिया सम्यग्दर्शनोत्पादनशक्ता सा सम्यग् व्यायामः । –तत्त्वार्थ सिद्धसेनीय टीका-पृष्ठ 57
2. इं यस्माद्दिवसादि तीर्थ दिवसप्रधानं च तस्मादैवसिकमादाविति । आ.नि.

शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ और रूढ्यर्थ समझाते हुए उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज फरमाते हैं कि :–

आत्मा को उद्दिष्ट कर पंचाचार का जो पालन होता है वह अध्यात्म है । दूसरी व्याख्या के अनुसार बाह्य व्यवहार से उपबृंहित मैत्र्यादियुक्त चित्त अध्यात्म है ।•

इन दोनों व्याख्याओं में ज्ञान और क्रिया दोनों को अध्यात्म माना है । अकेली क्रिया जैसे अध्यात्म नहीं, वैसे ही अकेला ज्ञान भी अध्यात्म नहीं हैं । यही बात स्पष्ट करके वे कहते हैं कि :–

मोह के अधिकार रहित आत्माओं की आत्मा को उद्दिष्ट कर शुद्धक्रिया को जिनेश्वर अध्यात्म कहते है ।◆

आगे बढ़कर वे फरमाते हैं कि जैसे पाँचों प्रकार के चारित्रों में सामायिक चारित्र रहा हुआ है, उसी प्रकार सर्व प्रकार के मोक्षसाधक व्यापारों में अध्यात्म अनुगत है ।

अन्त में वे स्पष्ट कहते हैं कि :–

इस कारण से ज्ञान-क्रिया उभयरुप अध्यात्म है और वह निर्दम्भ आचार वाले व्यक्तियों में ही वृद्धि पाता है ।□

क्रिया को केवल काया की चेष्टा कहकर जो ज्ञान को ही अध्यात्म मानते है उनका जीवन निर्दम्भ होना संभव नहीं, क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में मन जुड़े बिना केवल काया से जानते हुए क्रिया नहीं हो सकती । सशरीरी अवस्था में जैसे मानसिक क्रिया केवल आत्मा से नहीं हो सकती उसी प्रकार काया या वाणी की क्रिया मात्र काया अथवा वाणी से

• आत्मानमधिकृत्य स्याद्, यः पञ्चाचारचारिमा । शब्दयोगार्थ निपुणास्तदध्यात्मं प्रचक्षते ।।
रुढ्यर्थनिपुणास्त्वाहुश्चित्तं मैत्र्यादिवासितम् । अध्यात्मं निर्मलं बाह्य-व्यवहारोपबृंहितम् ।।
अध्यात्मोपनिषत् प्रकरणम् – श्लोक 2-3

◆ गतमोहाधिकारणामात्मानमधिकृत्य या ।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा, तद्ध्यात्मं जगुर्जिनाः ।। अध्यात्मसार अधिकार 2, श्लोक–2

□ अतो ज्ञानक्रियारूपमध्यात्मं व्यवतिष्ठते ।
एतत्प्रवर्धमानं स्यान्निर्दम्भाचारशालिनाम् ।।1।। अध्यात्मसार अधिकार, श्लोक–29

नहीं हो सकती । वाणी का व्यापार काया की अपेक्षा रखता है और मन का व्यापार भी काया की अपेक्षा रखता है । इसी प्रकार मन का व्यापार जैसे आत्मा की अपेक्षा रखता है, वैसे ही वाणी और काया का व्यापार भी आत्मा की अपेक्षा रखता है, आत्म प्रदेशों का कम्पन हुए बिना मन, वचन या काया तीनों में से एक भी योग अपनी प्रवृत्ति नहीं कर सकता । तीनों ही योगों द्वारा होनेवाली शुभ या अशुभ क्रिया आत्मा ही करती है, परन्तु आत्मा को छोड़कर केवल पुद्‌गल नहीं करता-ऐसा मानने वाले ही निर्दम्भ रह सकते हैं जैनमत में अध्यात्म के नाम थोड़ा भी दम्भ टिक नहीं सकता हो तो उसका कारण यही है । फिर भी जो वेदान्त या सांख्यमत की भांति आत्मा या जीव को सशरीरी अवस्था में भी सर्वथा नित्य या पुष्करपत्रवत् निर्लिप्त मानते है उनके जीवन में देर-सबेर दम्भ का प्रवेश होने की बड़ी संभावना है । शुद्ध अध्यात्म ज्ञान और क्रिया से ओतप्रोत हो जाते हैं अतः वह निर्दोष अध्यात्म है ।

प्रश्न 176 :– प्रतिक्रमण की क्रिया में योग कहाँ है ?

उत्तर :– सच्चा योग मोक्षसाधक ज्ञान और क्रिया उभयस्वरुप है । भगवान् श्री हरिभद्रसूरिजी योगविंशिका नामक ग्रन्थरत्न में फरमाते हैं कि :–

मुक्खेण जोयणाओ जोओ सर्वो धम्मवावारो ।

अथवा–उपाध्याय भगवंत श्री यशोविजयजी महाराज फरमाते हैं उस तरह :–

मोक्षेण योजनाद्योगः सर्वोऽप्याचार इष्यते ।

जीव को परम सुखस्वरुप मोक्ष के साथ जोड़ने वाला-संबंध करवाने वाला-सर्व प्रकार का धर्म व्यापार-सर्व प्रकार का धर्माचरण-योग है । दूसरे शब्दों में मोक्षकारणीभूत आत्मव्यापार ही वास्तविक योग है । अथवा **धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम् ।** धर्म व्यापारपन ही योग का वास्तविक लक्षण है । यह लक्षण प्रतिक्रमण की क्रिया में सर्वांश से लागू होता है इसलिये प्रतिक्रमण की क्रिया सच्ची योगसाधना है । उसके बिना केवल

आसन, केवल प्राणायाम या केवल ध्यान, धारण या समाधि की क्रिया मोक्षसाधक योगस्वरूप बने–ऐसा नियम नहीं है । मोक्ष के ध्येय से होनेवाली अष्टांगयोग की प्रवृत्ति को जैनाचार्यो ने मान्यता दी है तब भी उसमें जो दोष और भयस्थान रहे हैं उनका भी साथ में उल्लेख किया है ।• जैन सिद्धान्त का कथन है कि किसी भी आसन, किसी भी स्थान या किसी भी मुद्रा से, किसी भी काल में और किसी भी क्षेत्र में तथा किसी भी (बैठी, खड़ी या सोई) अवस्था में मुनिजन केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं । इसके संबंध में कोई भी एक निश्चित नियम नहीं है । नियम एक मात्र परिणाम की शुद्धि और योग की सुस्थता का है । परिणाम की शुद्धि या योग की सुस्थता जिस प्रकार हो तदनुसार आचरण करना कर्मक्षय या मोक्षलाभ का असाधारण उपाय है और वही वास्तविक योग है । प्रतिक्रमण की क्रिया परिणाम की शुद्धि और योग की सुस्थता का अनुपम उपाय है इसलिये वह भी एक प्रकार का योग है और मोक्ष का हेतु है ।

प्रश्न 177 :– प्रतिक्रमण की क्रिया का जो लाभ बताया जाता है वह सत्य ही हो तो क्रिया करने वाले वर्ग में क्यों नहीं दिखाई देता ?

उत्तर :– प्रेक्षक जिस दृष्टि से देखता है, उस दृष्टि के अनुसार उसे गुण या दोष दिखाई पड़ता है । प्रतिक्रमण की क्रिया की जाँच करनेवाले को किस दृष्टि से उसे देखना चाहिये–इसका निर्णय प्रथम करना चाहिये । हम देख चुके हैं कि प्रतिक्रमण की क्रिया जिनेश्वर भगवंतों ने मुमुक्षु आत्माओं के लिये अवश्य कर्तव्य के रुप में नियुक्त की है और वह क्रिया करने के लिये सूत्र स्वयं गणधर भगवंतों ने तीर्थ की स्थापना के प्रथम दिन ही रचे हैं तथा उसकी विधियुक्त आराधना भी उसी दिन से चतुर्विध संघ अपने 2 अधिकार के अनुसार निरपवाद रूप

• न च प्राणायामादि हठयोगाभ्यासश्चित्तनिरोधे परमेन्द्रियजये निश्चित उपायोऽपि ऊसासं न निरुंभई (आ.नि.गा.1510) इत्याद्यां-गमेन योगसमाधानविघ्नत्वेन बहुलं तस्य निषिद्धत्वात्
पातअलयोगदर्शन पाद-2, सू-55
श्रोमद्यशोविजयवाचकवरिहिता टीका

से करता है । शास्त्रीय दृष्टि से सबसे बड़ा लाभ सर्व प्रथम तो प्रभु-आज्ञा के पालन का है । **'मन्नह जिणाणमाणं'**–जिनेश्वरों की आज्ञा मानो । **'धम्मो आणाए पडिबद्धो'**–धर्म आज्ञा से बँधा हुआ है । **'आणाए धम्मो'**–आज्ञा से ही धर्म है । प्रतिक्रमण की क्रिया में से जिनेश्वरों की आज्ञा पालन करने का अध्यवसाय ही सबसे बड़ा लाभ है । यही सबसे बड़ी भाव शुद्धि है । आज्ञापालन के अध्यवसाय पूर्वक जो प्रतिक्रमण की क्रिया तो क्या, परन्तु जिन मत के एक छोटे से छोटे धर्मानुष्ठान का आचरण करते हैं उन्हें भी असीम लाभ प्राप्त होता है ।

भगवान श्री हरिभद्रसूरिजी फरमाते हैं कि :–

यह जिनोक्त है, आप्त प्रणीत है, ऐसे प्रकार की भक्ति और सम्मानपूर्वक द्रव्य से (अर्थात् अन्दर के भाव बिना) भी ग्रहण किया जानेवाला प्रत्याख्यानं, भाव प्रत्याख्यान (अर्थात् शुद्ध प्रत्याख्यान) का कारण बनता है ।•

कारण यह है कि यह जिनेश्वरों द्वारा कथित है इस प्रकार का सम्मान का आशय द्रव्य प्रत्याख्यान के हेतुभूत अविधि, अपरिणाम, ऐहिक लोभ, मन्दोत्साह आदि दोषों को दूर कर देता है ।

प्रतिक्रमण की क्रिया जिनप्रणित है, आत्मागम में कथित है तथा कर्मक्षय का हेतु है । इस प्रकार की श्रद्धापूर्वक जो लोग उस क्रिया को करते है उनकी क्रिया में अविधि आदि दोष रहे हुए हों फिर भी वे कालक्रम के साथ नष्ट हो जाते हैं । जिनाज्ञा-आराधनरूपी यह महान् लाभ प्रतिक्रमण की क्रिया करने वालों को मिलता है । मात्र उसे देखने की दृष्टि न होने से वह दिखायी नहीं देता ।

अब उस क्रिया का लाभ देखने की एक दूसरी दृष्टि भी है ! वह यह है कि प्रतिक्रमण की क्रिया दोष की शुद्धि और गुण की वृद्धि के लिए है तो उस क्रिया को करने वाले के कितने दोष दूर हुए और कितने गुण

• जिनोक्तमिति सद्भक्त्या, ग्रहणे द्रव्यतोऽप्यदः ।
बाध्यमानं भवेद्भावप्रत्याख्यानस्य कारणम् ॥

श्री हरिभद्रसूरि कृत अष्टक ४, श्लोक – ४

बढ़े ? परन्तु क्रिया का यह लाभ देखने की दृष्टि भारी खतरे से भरी हुई है क्योंकि गुण और दोष आंतरिक वस्तु है । दूसरे के आंतरिक भावो को देखने का सामर्थ्य छद्मस्थ में है ही नहीं । वैसा करने जाए तो व्यवहार का विलोप होता है । व्यवहार के विलोप से तीर्थ का विलोप होता है । शास्त्रकार महर्षियों ने फरमाया है कि :–

यदि जिनमत का अंगीकार करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों में से एक को भी मत छोडो क्योंकि व्यवहार के विलोप से तीर्थ का विच्छेद होता है और निश्चय के विलोप से सत्य का विलोप होता है ।[1]

व्यवहार क्रिया प्रधान है, निश्चय भाव प्रधान है । साधु की क्रिया में रहा हुआ साधु-साधु मानने योग्य है । फिर भाव से वह साधु के योग्य भाव में हो अथवा न हो, क्योंकि भाव तो अस्थिर और अतीन्द्रिय है, पल पल में बदलता रहता है । भाव के बदलने मात्र से साधु की साधुता सर्वथा नहीं मिट जाती क्योंकि वह क्रिया में सुस्थित है । जैसे प्रसन्नचंद्र राजर्षि भाव से सातवीं नरक के दल एकत्रित कर रहे ते परन्तु क्रिया से साधु लिंग में और साधु के आचार में थे, इसलिए वे श्रेणिक आदि के लिए वंदनीय थे । भाव बदलने के साथ पल भर में वे सर्वार्थसिद्ध विमान के और पलभर में केवलज्ञान योग्य बने । इसलिए आंतरिक भावों पर ही दूसरे की क्रिया के लाभालाभ का निष्कर्ष निकालना अथवा उसे ही एक मापक यंत्र बनाना दोष दृष्टि है, द्वेष दृष्टि है अथवा अज्ञान दृष्टि है । उस दृष्टि का त्याग करके प्रतिक्रमण की क्रिया देखी जाए तो उसे करने वाले प्रभु आज्ञा के आराधक बनते हुए दिखायी देंगे और प्रभु आज्ञा की आराधना के परिणामस्वरूप मुक्ति मार्ग के साधक लगेंगे ।

अब तीसरी दृष्टि क्रिया के द्वारा अपनी आत्मा को लाभ हुआ अथवा हानि हुई इसे देखने की है । यह दृष्टि शास्त्रविहित है । दूसरे के

---

1. जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारनिच्छए मुयह ।
   इक्केण विणा तित्थं, छिज्जइ अन्नेण उ तच्चं ॥ भगवती टीका

आंतरिक भावों का निर्णय करना दुष्कर है । परन्तु अपने भावों का निर्णय करना सर्वथा दुष्कर नहीं । उसे भी देखने के लिए सावधानी न रखी जाए तो तीर्थ की रक्षा करने के प्रयास में सत्य का ही नाश हो जाता है । यहां सत्य का तात्पर्य अशठभाव से, तीर्थ के आराधन से होने वाले आत्मिक लाभ से है । इसके लिए अपने भावों का निरीक्षण अवश्य करना चाहिए ! क्रिया करते हुए भी अपने भाव सुधरते न हो तो उस क्रिया को द्रव्य क्रिया, स्वकार्य करने में असमर्थ ऐसी तुच्छ क्रिया माननी चाहिए । वह क्रिया तो विष क्रिया होनी चाहिए, गरल क्रिया होनी चाहिए अथवा सम्मूर्छिम क्रिया होनी चाहिए ।

इस लोक के पौद्‌गलिक फल की आकांक्षा से की जानेवाली क्रिया विषक्रिया है । परलोक के पौद्‌गलिक आकांक्षा से की जाने वाली वही क्रिया गरल क्रिया है और इस लोक या परलोक के फल की आकांक्षा न हो तब भी शून्यचित्त से अमनस्क रुप से या अनाभोग से की जानेवाली क्रिया सम्मुर्छिम क्रिया है । क्रिया के इन दोषों को दूर कर, उपयोगयुक्त बनकर, निराशंस भाव से केवल मुक्ति और कर्मक्षय की आकांक्षा से क्रिया करनी चाहिए अथवा श्री जिनेश्वर भगवंत की भवोच्छेदक, त्रिभुवनजनमान्य, परम प्रकृष्ट आज्ञा के पालनार्थ क्रिया करनी चाहिए जिससे भाव सुधरते हैं, गुणों को विकास होता है और दोष दूर होते हैं । इसीलिये भी हरिभद्रसूरि आदि सूरिपुंगवों ने सर्वधर्म व्यापार को मोक्ष का कारण कहने के साथ, उसके साथ परिशुद्ध विशेषण लगाया है ।

परिशुद्ध धर्मव्यापार मोक्ष का कारण है । परिशुद्ध अर्थात् आशय की विशुद्धि वाला । क्रिया के पाँच प्रकार के आशय षोड़शक आदि ग्रंथो में बताये हैं । उनमें प्रथम प्रणिधान है । प्रणिधान अर्थात् कर्तव्य का ध्यान–यह मेरा कर्तव्य है ऐसी बुद्धि । यह बुद्धि शास्त्र के प्रति सम्मान भाव से उत्पन्न होती है क्योंकि शास्त्र के आदिकर्ता अरिहंत देव है अतः प्रत्येक क्रिया करते समय यह क्रिया बताने वाले शास्त्र हैं और इन शास्त्रों के आदि प्रकाशक आद्य पुरस्कर्ता भी अरिहंत परमात्मा हैं, इस

प्रकार का प्रणिधान रहने से कर्तव्य भावना सतेज रहती है । दूसरी ओर अरिहंत परमात्मा का ध्यान भी चलता रहता है । इसके लिए कहा है कि:–

शास्त्र को आगे करने से वीतराग को आगे किया जाता है और वीतराग को आगे करने से सब प्रकार की सिद्धियाँ निश्चित रूप से प्राप्त होती है ।[1]

जैन दर्शन के मतानुसार यहीं सच्चा ईश्वर प्रणिधान है । मात्र ईश्वर का नाम लेने से अथवा स्तवन करने से ही कल्याण हो जाएगा अथवा केवल विविध प्रकार के अनुष्ठान करने मात्र से ही कल्याण हो जाएगा ऐसी बात जैन शासन एकान्त से नहीं करता । जैन शासन तो कहता है कि शास्त्र को आगे रखकर चलो । शास्त्र को आगे करने से शास्त्र के पुरस्कर्ता के रूप में एक ओर वीतराग का स्मरण ध्यान तथा सम्मान होता है तो दूसरी ओर अपनी भूमिका के योग्य शास्त्रनिर्दिष्ट कर्तव्य-कर्म में रत रहने के लिये आवश्यक श्रद्धा का बल प्राप्त होता है । वीतराग का नाम स्मरण, स्तवन-कीर्तन अथवा अर्चन, पूजन भी श्री जिनमत में वीतराग की आज्ञा के पालन के रूप में करने का निर्देश दिया गया है क्योंकि उस आज्ञा पालन का परिणाम ही जीव के लिए सिद्धि का सच्चा कारण बनता है ।

क्रिया का दूसरा आशय प्रवृत्ति है । यहाँ प्रवृत्ति से तात्पर्य है–अतिशय प्रयत्न । अपने अपने योग्य धर्मस्थान के विषय में (उपाय विषयक नैपुण्ययुक्त और क्रिया की शीघ्र समाप्ति की इच्छा रूप औत्सुक्य दोष से रहित) प्रयत्न का अतिशय प्रवृत्ति कहलाता है ।

तीसरा आशय विघ्नजय है । धर्म में आनेवाले विघ्नों–अन्तरायों को दूर करने का परिणाम विघ्नजय कहलाता है । धर्म के अन्तराय तीन प्रकार के हैं । जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । इन्हें कण्टक कल्प, ज्वरकल्प और दिग्मोहकल्प कहा है । शीतोष्णादि परिषह कण्टककल्प विघ्न है और ये तितिक्षा भावना द्वारा दूर किये जा सकते हैं । तितिक्षा

1. शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद् वीतरागः पुरस्कृतः ।
पुरस्कृते पुनस्तस्मिन्नियमात् सर्वसिद्धयः ।।1।। ज्ञानसार शास्त्राष्टक श्लोक-4

अर्थात् शीतोष्णादि द्वन्द्व समभाव से सहन करने की वृत्ति । शारीरिक रोग ज्वरकल्प है । इन्हें हिताहार–मिताहार द्वारा दूर किया जा सकता है अथवा ये रोग मेरे शरीर की स्थिति के लिए बाधक है परन्तु आत्मा के स्वरूप के लिये नहीं । इस प्रकार का विचार करने से जीते जा सकते हैं । मिथ्यात्वादि जनित मनो-विभ्रम दिग्मोहकल्प नामक तृतीय विघ्न है । उसे मिथ्यात्वादि की प्रतिपक्ष भावनाओं द्वारा और गुरु आज्ञा की परतंत्रता द्वारा जीता जा सकता है । इस प्रकार तीनों प्रकार के विघ्न दूर करने से धर्मध्यान की निरन्तर निर्विघ्न आराधना हो सकती है ।

सिद्धि यह चौथा और विनियोग यह पाँचवा आशय है । प्रथम तीन आशय के एकत्रित सेवन से धर्म की सिद्धि होती है और सिद्धि होने के पश्चात् यथोचित उपाय द्वारा दूसरे को उसकी प्राप्ति करवाई जा सकती है । यह विनियोग नामक पाँचवा आशय है । इन पाँचो ही प्रकार के आशय से शुद्ध धर्म व्यापार मोक्ष का कारण बन सकता है परन्तु केवल धर्म व्यापार नहीं, क्योंकि वास्तविक धर्म पुष्टि और शुद्धि वाला चित्त है ।

पुण्योपचय चित्त की पुष्टि है और घाती कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाली आंशिक निर्मलता चित्त की शुद्धि है । प्रणिधान आदि आशयों से चित् के दोनों ही प्रकार के धर्म अनुक्रम से बदले जाते है और उसकी पुष्टि तथा शुद्धि का प्रकर्ष मोक्ष में परिणमन करता है । इन आशयों से शून्य अनुष्ठान अनुबंध वाला नहीं बनता, इसीलिये इसे करते हुए भी शुद्धि का प्रकर्ष होने के बजाय विद्यमान अशुद्धि बनी रहती है ।

इस प्रकार क्रिया में जब आशय का सम्मिश्रण होता है तब वे दोनों ही मिलकर मोक्ष के हेतु बनते हैं । आशय शुद्धि पूर्वक की हुई प्रतिक्रमण की क्रिया विशेष कर मोक्ष का हेतु बनती है । क्योंकि उसमें स्थान, वर्ण, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन इन पांचो प्रकार के योगों की विशिष्ट आराधना विद्यमान है ।

1. स्थान :– कायोत्सर्गादि आसन विशेष ।

2. वर्ण :– क्रिया में उच्चारित सूत्र के अक्षर ।

3. अर्थ :– अक्षरों में प्रच्छन्न अर्थ विशेष का निर्णय ।

4. आलम्बन :– बाह्य प्रतिमा, अक्ष स्थापना आदि विषयक ध्यान ।

5. अनालम्बन :– बाह्य रूपी द्रव्य के आलम्बन रहित केवल निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि ।

योग शास्त्र में प्रतिपादित यह पांचो प्रकार का विशिष्ट योग प्रतिक्रमण की क्रिया में सधता है । उसमें स्थान और वर्ण ये दोनों क्रिया योग हैं क्योंकि स्थान शारीरिक और वर्ण वाचिक क्रिया रूप है । जबकि अर्थ आलम्बन तथा अनालम्बन ये तीनों ज्ञानयोग है क्योंकि ये मानसिक व्यापार रूप हैं ।

इस प्रकार आशय शुद्धिपूर्वक की जाती हुई यह क्रिया तीर्थ के रक्षण के साथ मोक्ष की प्राप्ति के लिए हेतुभूत भी होता है । **'हाथ कंगन को आरसी क्या'** क्रिया करके उसका लाभ प्रत्यक्ष अनुभव करना यही उसे समझने का राज मार्ग है ।

प्रश्न 178 :– प्रतिक्रमण सूत्र पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई है तो नवीन पुस्तक प्रकट करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :– वैसे तो प्रतिक्रमण सूत्र पर कोई भी पुस्तक प्रकट करने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि सूत्र अल्प है और वे प्रकट पुस्तक के बिना भी कंठस्थ करवाये जा सकते हैं । 25-50 वर्ष पहिले के समय में ऐसा ही होता था तथा उसका अर्थ–भावार्थ–ऐदंपर्यार्थ आदि विस्तृत रूप में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि में आलेखित विद्यमान है । साथ ही उसे पढ़ाने वाले और समझने वाले साधु-साध्वियाँ आदि भी मिल जाते हैं परन्तु प्रजा के दुर्भाग्य की बात है कि गत डेढ़ सौ-दो सौ वर्षों से विदेशी शासन और उसके संसर्ग और शिक्षण से उसकी जड़वादी संस्कृति का प्रभाव देशभर में व्याप्त हो गया है । जिस भाषा में सूत्र और उनकी टीका आदि रचित हैं, वह भाषा भुला दी गई है । उसके स्थान पर नवीन भाषा लोगों की जिह्वा पर और नवीन विचार उनके मस्तिष्क

में चढ़ गए हैं । इससे आर्य संस्कृति, आर्य धर्म, आर्य क्रियाएँ और आर्य आचार लुप्त प्रायः बनते जाते हैं और उनके स्थान पर बाह्य प्रभाव से अनेक प्रकार के विपरीत विचार लोगों में प्रविष्ट होते जा रहे हैं । उसी कारण से प्रतिक्रमण जैसी महत्त्वपूर्ण क्रिया के प्रति और उसके मंत्रमय अर्थगर्भित महान् सूत्रों और उनके अभ्यास के प्रति भी एक प्रकार की उपेक्षा वृत्ति बढती जा रही है । उससे होने वाले अनिष्ट को रोकने के लिए आज तक प्रतिक्रमण के सूत्र और उनके अर्थ समझाने के लिये अनेक प्रकार की भिन्न 2 पुस्तकों द्वारा प्रयत्न होते रहे हैं और इससे उस पर थोड़ी बहुत श्रद्धा और थोड़ा बहुत ज्ञान टिक रहा है ।

शास्त्र में कहा है कि अज्ञात वस्तु की अपेक्षा ज्ञात वस्तु पर अनंतगुनी श्रद्धा उत्पन्न होती है ।• रत्न स्वभाव से ही सुंदर है फिर भी उसके मूल्य के वास्तविक ज्ञान होने के पश्चात् उस पर जो श्रद्धा होती है, वह द्रढ और अनेक गुणी अधिक होती है । प्रतिक्रमण के सूत्र सच्चे रत्नों की तरह स्वभाव से ही सुन्दर हैं तब भी उन पर अंतरंग श्रद्धा होने के लिये उनके अर्थ और रहस्यों का प्रभाव और माहात्म्य का यथास्थित ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है ।

तत्वार्थ भाष्य पर से आवश्यक को अंगबाह्य के रुप में स्थविरकृत मानकर गणधरकृत–ऐसा प्रतिपादन किया गया है, परन्तु वह गलत है, क्योंकि ठाणांगसूत्र में अंगबाह्य-श्रुत के आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त ऐसे दो भेद करके आवश्यक को गणधरकृत और आवश्यक-व्यतिरिक्त को (उत्तराध्ययनादि को) स्थविरकृत बताया है ।◆ यही बात द्रव्य लोक प्रकाश सर्ग तीसरा गा. 87 से 98 में है । विशेषावश्यक भाष्य में अंगबाह्य श्रुत के तीन अर्थ किये गए हैं जो इस प्रकार हैं :– (1) अंगबाह्य अर्थात् स्थविरकृत जैसे भद्रबाहुस्वामीकृत आवश्यक निर्युक्ति आदि । (2) अंगबाह्य

• ज्ञाते वस्तुनि अज्ञाताद्वस्तुनः सकाशादनंतगुणिता श्रद्धा प्रवर्धते ।
उपदेशरहस्य टीका गा. 110

◆ अंगबाहिरे दुविहे पन्नत्ते तं जहा,
आवस्सए चेव आवस्सय वइरित्ते चेव । ठाणांग :– स्था.2 उ.1 सू. 12

अर्थात् त्रिपदीप्रश्नोत्तर के सिवाय रचित आवश्यकादि साहित्य । (यहाँ आवश्यक को गणधरकृत और आदिपर से उत्तराध्ययन आदि श्रुत को स्थविरकृत समझें, क्योंकि आवश्यकादि के कर्ता स्थविर हैं–ऐसा सूचन नहीं किया गया है । (3) अंगबाह्य अर्थात् अध्रुवश्रुत अर्थात् सर्व तीर्थंकरदेवों के तीर्थ में निश्चित नहीं ऐसा । उसे तंदुलवेयालियपयन्ना आदि जानें । इससे यह स्पष्ट है कि मध्य के बाईस तीर्थपतिओं के शासन में आवश्यक रचना निश्चित है भले ही इसका उपयोग अतिचार लगनेरुप कारण उपस्थित होने पर होता हो । वहाँ गणधर भगवंत और उनके शिष्यों को अतिचार के कारण प्रतिक्रमण करना ही पड़ता है । उसके लिये आवश्यक सूत्र की रचना आवश्यक है, उससे भी आवश्यक गणधर कृत सिद्ध होता है । इस प्रकार आगम-पाठों से आवश्यकसूत्र गणधरकृत ही हैं-यह बात निश्चित होने से तत्त्वार्थ भाष्य के स्थविरकृत आवश्यक का अर्थ आवश्यक निर्युक्ति ही करना चाहिये । इससे समझ में आएगा की शास्त्रीय निर्णय शास्त्रज्ञ गीतार्थ पुरुषों के अवलम्बन बिना करने में उत्सूत्रभाषणादि का भय उत्पन्न होता है ।[1]

1. गणहरथेरकयं वा आएसा मुक्कबागरणओ वा ।
   ध्रुवचलविसेसओ रा, अंगाणंगेसु नाणत्तं ।। वि.भा.गा.550

विशेष हेतु देखों – इस गाथा पर मल्लधारी श्री हेमचन्द्रसूरिजी की टीका ।

नोट

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आ. श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 243 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-
7.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	400/-
8.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-
9.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-
10.	विविध-तपमाला	100/-
11.	विवेकी बनो	90/-
12.	प्रवचन-वर्षा	60/-
13.	आओ श्रावक बनें !	25/-
14.	व्यसन-मुक्ति	100/-
15.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-
16.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-
17.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-
18.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-
19.	समाधि मृत्यु	80/-
20.	Pearls of Preaching	60/-
21.	New Message for a New Day	600/-
22.	Panch Pratikraman Sootra	100/-
23.	अमृत रस का प्याला	300/-
24.	ध्यान साधना	40/-
25.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-
26.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-
27.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-
28.	प्रेरक-प्रवचन	80/-
29.	जीव विचार विवेचन	100/-
30.	नवतत्त्व विवेचन	110/-
31.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-
32.	लघु संग्रहणी	140/-
33.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-
34.	कर्मग्रन्थ (भाग-1)	160/-
35.	दूसरा कर्मग्रन्थ	55/-
36.	गणधर-संवाद	80/-
37.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
38.	मोक्ष मार्ग के कदम	120/-
39.	विविध देववंदन	100/-
40.	संस्मरण	50/-
41.	भव आलोचना	10/-
42.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
43.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
44.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
45.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
46.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
47.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
48.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
49.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
50.	नमस्कार मीमांसा	150/-
51.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
52.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
53.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
54.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
55.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
56.	वैराग्य-वाणी	140/-
57.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
58.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
59.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
60.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
61.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
62.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
63.	मन के जीते जीत है	80/-
64.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
65.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
66.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
67.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
68.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
69.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
70.	वैराग्य-शतक	140/-
71.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
72.	धर्म-बीज	140/-
73.	45 आगम परिचय	200/-
74.	चौथा कर्मग्रन्थ	140/-
75.	पाँचवाँ कर्मग्रन्थ	160/-
76.	नित्य देववंदन	निशुल्क
77.	श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी	170/-
78.	अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर	160/-
79.	तीसरा कर्मग्रन्थ	90/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299